योग–विज्ञान

[द्वितीय भाग]

मानव शरीर में चेतना केन्द्र

प्रकाशक :

श्री पीताम्बरापीठ दतिया (म. प्र.)

योग विज्ञान

(द्वितीय भाग)

लेखक :– अज्ञात

मूल्य – **50.00** रु.

प्रकाशक :
श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म०प्र०)

प्रकाशक :

श्री पीताम्बरा पीठ

दतिया (म० प्र०)

फोन–07522–233960, 234960

प्रथमावृत्ति द्वितीय भाग संवत् २०३५ (सन् १९७८)
द्वितीयावृत्ति द्वितीय भाग संवत् २०४२ (सन् १९८५)
तृतीयावृत्ति द्वितीय भाग संवत् २०५७ (सन् २०००)
चतुर्थावृत्ति द्वितीय भाग संवत् २०६८ (जुलाई २०११)

मुद्रक :

शिवशक्ति प्रेस प्रा.लि.

ग्वालियर रोड

झाँसी (उ.प्र.)

फोन–0510–2441092

प्रकाशकीय

'योग विज्ञान' के प्रथम भाग में योग एवं तन्त्र का विशद विवेचन एवं उसके क्रियात्मक स्वरूप का पूर्ण विवरण दिया जा चुका है।

प्रस्तुत गन्थ में योग से ही सम्बन्धित अन्य अनेक एवं अनूठे, अछूते तथा महत्वपूर्ण उपयोगी विषयों पर विस्तार से प्रकार्श डाला गया है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से न केवल योग–विज्ञान की विशद जानकारी प्राप्त हो जाती है अपितु मानव जीवन से संबंधित अन्य गूढ़ विषयों का भी वृहद् ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिन्हें विद्वान लेखक ने भली–भांति प्रतिपादित किया है।

द्वितीय खण्ड के व्यय आदि का भार श्री वैद्य पं. रामनारायण जी शर्मा प्रधान संचालक श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा. लि. झाँसी ने सहर्ष वहन किया है। एतदर्थ उनके लिये धन्यवाद! इस अवसर पर श्री विष्णुकान्त शास्त्री (मुडिया) का स्मरण भी आवश्यक है जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिलिपि की है।

आशा है कि इस ग्रन्थ 'योग विज्ञान' के द्वितीय खण्ड से, जिज्ञासु पाठकों एवं साधकों को आशातीत लाभ होगा।

दीपावली
सं. २०३५

ब्रजनन्दन शास्त्री साहित्याचार्य
मंत्री
श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद
दतिया (म.प्र.)

प्रकाशकीय

योग आत्मा के बोध को उत्पन्न कराने वाला है यह मनुष्य के विवेक के द्वार खोलने के लिए चाबी है। योग संसार के बन्धन से मुक्ति भी दिलाता है।

'योग विज्ञान' के द्वितीय भाग का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित कर पीठ गौरव का अनुभव कर रही है। प्रस्तुत ग्रन्थ में योग से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण विषय जैसे **स्वरशास्त्र, अष्टांङ्ग योग, ग्रन्थित्रय भेदन, कुण्डलिनी शक्ति** का जागरण, साधकों के दैनिक कृत्य पञ्च महायज्ञ, पञ्च देवोपासना, न्यास एवं उसका महत्त्व तथा तत्त्वसाधना आदि पहलुओं पर विद्वान लेखक ने जानकारी दी है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से जीवनोपयोगी कई गूढ़ विषयों का भी ज्ञान हो जाता है।

आशा है, 'योग विज्ञान' के द्वितीय भाग से जिज्ञासु पाठक एवं साधक लाभान्वित होंगे।

गुरुपूर्णिमा,
१५ जुलाई २०११
विक्रम संवत्–२०६८

रेणु शर्मा
मंत्री
श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म.प्र.)

ब्रह्मलीन परमपूज्य श्री अनन्तश्री स्वामी जी महाराज
पीताम्बरा पीठ, दतिया (म०प्र०)

विषय सूची

विभिन्न योग और उनकी साधनायें

योग-विज्ञान

खण्ड-२

विभिन्न योग और उनकी साधनायें

केवल कुम्भक प्राणायाम

सहित और केवल नाम से कुम्भक के दो भेद होते है। पूरक और रेचक के संयोग वाले कुम्भक को 'सहित' और दोनों क्रियाओं से रहित कुम्भक को 'केवल' कहते है।

सहित कुम्भक का पूर्ण अभ्यास होने से ही केवल कुम्भक का अभ्यास किया जा सकता है। जब अधिक अभ्यास के बाद सहित कुम्भक महीनों और वर्षों बहुत स्थानों में बगैर पूरक रेचक के स्थान, काल और संख्या से रहित होकर रहने लगती है तभी उस कुम्भक को विशुद्ध केवल कुम्भक अर्थात् प्राणायाम का चतुर्थ प्रकार कहते है। वशिष्ठ संहिता में लिखा है 'जब पूरक रेचक किये बिना ही अभ्यास कर्ता आराम से स्वाँस रोके रहे, तभी इस कुम्भक को 'केवल' कहते है। इस प्राणायाम में बिना पूरक रेचक किये साँस सहसा रोक ली जाती है। इस कुम्भक द्वारा अभ्यासी अपनी इच्छानुसार साँस देर तक रोके रह सकता है। तब वह राजयोगी हो जाता है। इसका अभ्यास दिन में तीन मर्तवा किया जा सकता है। सच्चा योगी वही है जिसे प्राणायाम व केवल कुम्भक का पूर्ण ज्ञान हो।

इस कुम्भक के अभ्यास से अभ्यासी को कोई रोग नहीं होता, आयु बढ़ती है व अद्‌भुत रूप से आकाश में भ्रमण कर सकता हैं।

इस अन्तिम प्राणायाम को जिसने सिद्ध कर लिया वह तीनों लोकों

में चाहे जो कुछ कर सकता है।

प्राणायाम

सूर्य चक्र पर ध्यान लगाने वाला प्राणायाम :-

सूर्य चक्र जिसे उदर मस्तक (मस्तिष्क) कहते हैं, एक महत्वपूर्ण स्नायु केन्द्र है जिसका सम्बन्ध सहानुभूति स्नायु मंडल से है। इसका स्थान जठर प्रदेश हैं जो कि पेट तली के पास मेरुदंड के दोनों तरफ स्थित है। मनुष्य के मुख्य-मुख्य आभ्यन्तरिक अंग यहीं से परिचालित होते हैं। हमारे भावों को व्यक्त करने तथा अन्य अनेक अंगों के परिचालन में काम देता है। यह मस्तिष्क की तरह भूरे पदार्थ का बना होता है। शरीर के मुख्य मार्मिक अंगों में से एक हैं। शरीर का यह पावर हाऊस है। शरीर के १६ आधारों में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण आधार है। इस सूर्य चक्र पर पूरी चोट पड़ने से आदमी मर जाता है। सारे स्नायु मंडल का सूर्य होने के कारण जब तक यह ठीक-ठीक चमकता रहता है। सारा शरीर अपना ठीक-ठीक काम करता है। इसी से सारे शरीर के अंगों को बल व स्फूर्ति मिलती है। प्राणायाम द्वारा जब विचार और प्राण इस चक्र पर केन्द्रित किये जाते है। तब इस चक्र का गुप्त प्रकाश प्रस्फुटित होता है। पद्मासन या सिद्धासन लगाकर आँखें बन्द करके सीधे बैठ जाइये, वाम नासारन्ध्र से पूरक करिये व दाहिने नासारन्ध्र को दाहिने अंगूँठे से बंद रखिये।

कुम्भक के समय अपना ध्यान इसी चक्र पर एकाग्र रखिये और प्राण का संचार उसमें करिये। साथ ही यह विचार करिये कि मैं साँस के साथ प्राण, आनँद, सुख, बल स्फूर्ति और प्रेम प्राप्त कर रहा हूँ। कुम्भक के पश्चात् दाहिने नासारन्ध्र से धीरे-धीरे रेचक करिये। इस तरह बारह प्राणायाम प्रातः काल करिये। इससे भय, उदासी, कमजोरी व अनावश्यक भावनायें जो आध्यात्मिक उन्नति में बाधक हैं नष्ट हो जावेंगी।

प्राण चिकित्सा

जो लोग प्राणायाम करते हैं। वे अपने प्राण के द्वारा बड़े–बड़े रोगों को अच्छा कर सकते हैं। रोगी अंगों में प्राण का संचार करने के उपरान्त कुम्भक के अभ्यास द्वारा प्राण की कमी को पूरा कर सकता है। अपने प्राणों से दूसरों को लाभ पहुँचाने का मतलब यह नहीं है कि आप में प्राण की कमी हो जावेगी जितना अधिक प्राण आप दूसरों को देंगे उतनी ही अधिक मात्रा में प्राण के अनन्त भंडार हिरण्यगर्भ से तुम्हारे शरीर में प्राण का संचार होगा। यह प्रकृति का नियम है अतः इस काम में कंजूसी करने की आवश्यकता नहीं है।

गठिया के एक रोगी के रुग्ण पैरों को हाथ से सहलाइये। सहलाते समय कुम्भक करिये और विचार करिये कि प्राण आप के हाथों से होकर रोगी के पैरों में जा रहा है। हिरण्यगर्भ अर्थात् प्राण के अनन्त भण्डार से अपना सम्बन्ध विचार द्वारा लगाये रहिये और विचार करिये कि हिरण्यगर्भ से प्राण की अनन्त धारा आपके शरीर में आकर हाथों द्वारा रोगी के शरीर में प्रवेश कर रही है। रोगी को तुरन्त लाभ होगा और वह सबल हो उठेगा। सरदर्द, पेट पीड़ा व अन्य तात्कालिक व्याधियाँ आप के चुम्बक जैसे हाथों के लगने व सहलाते–सहलाते अच्छे हो जायेंगे।

प्लीहा

तिल्ली, उदर आदि शरीर के अंगों को सहलाते समय उन रोगान्तक अंग विशेषों को सम्बोधन करके कहते जाइये कि –हे रोगी अंग मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम रोग से मुक्त होकर अपने कर्तव्य का ठीक–ठीक पालन करो। वे अंग आपकी आज्ञा का पालन करेंगे क्योंकि अंगों में भी ज्ञान होता है। प्राण संचार करते समय प्रणव का उच्चारण करते रहिये। आरम्भ में कुछ रोगियों पर इसको अजमाइये जब आपको सफलता मिलने लगें एवं आप चिकित्सा करने लगें। कुछ दिन में आप कुशल हो

जावेंगे। आप विच्छू के काटे को तुरंत अच्छा कर सकते हैं। धीरे–धीरे सहलाकर उस अंग से आप जहर उतार सकते हैं। प्राणायाम के नित्य अभ्यास करने से अद्‌भुत ध्यान, दृढ़ इच्छाशक्ति, सुन्दर स्वस्थ तथा बल प्राप्त हो सकता है। आप को रुग्ण अंग में प्राण का संचार करना होगा। मान लीजिये कि आप का प्लीहा ठीक काम नहीं करता, पद्‌मासन लगाकर बैठ जाइये व आंखें बन्द कर लीजिये। जितनी देर में तीन बार प्रणव का उच्चारण हो सके धीरे–धीरे पूरक कीजिये व छः प्रणव कहने तक कुम्भक कीजिये' अब प्लीहा पर प्राण का संचार करिये और अपना ध्यान वहीं जमाये रहिये। मन उस स्थान से हटने न पाये।

स्वरशास्त्र

हमारे ऋषियों मुनियों ने लोक कल्याणार्थ जिन–जिन चमत्कार पूर्ण शास्त्रों का निर्माण किया था उनमें एक स्वरशास्त्र भी है। नाड़ी ज्ञान के लिये आदिनाथ भगवान शंकर ने पार्वती जी को शिव स्वरोदय ग्रंथ सुनाया। शिव स्वरोदय स्वर शास्त्र का स्वतन्त्र ग्रंथ है।

जीव के शरीर धारण करते ही उसमें नासापुटों में से श्वास का आवागमन आरम्भ हो जाता है। इसे प्राण वायु कहते है और देह रूपी नगर में राजा के समान है। वायु ग्रहण करने को निःश्वास और त्याग करने को प्रश्वास कहते हैं। जीव के जन्म से मृत्यु पर्यन्त इन दोनों की क्रिया होती ही रहती है और निःश्वास नासिका के दोनों छेदों में से कभी दाहिने और कभी बायें से चलती है। बायें नासापुट से चलने को इडा में अर्थात् चन्द्रस्वर चलना व दाहिने में चलने को पिंगला में अर्थात् सूर्यस्वर में चलना और दोनों में बराबर साथ–साथ चलने को सुषुम्ना में चलना कहते हैं। एक नासापुट को दबाकर दूसरे से श्वांस को बाहर निकालने पर यह पता लग जाता है कि एक नासापुट से वह सरलता से निकल रहा है और दूसरा बंद है। प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय से ढाई–ढाई घड़ी के हिसाब से एक–एक नासिका से अर्थात्

प्रत्येक स्वर से २ घंटा २४ मिनट क्रमशः श्वास चलती है। इस प्रकार रात दिन में पाँच बार बाँयी और पाँच बार दाहिनी नासिका से क्रमानुसार श्वास बदलती है। किस दिन पहले किस नासिका से श्वास चलती है उसका विवरण पवन विजय स्वरोदय के अनुसार आगे दिया जाता है। इस शास्त्र को पूर्ण रूप से जान लेने व उसका अनुसरण करने से कभी किसी भी कार्य में असफलता व दुःख नहीं हो सकता।

दोनों स्वरों को नियमित रूप से वर्तमान रखने को ही स्वर साधन कहते हैं।

साधारणतया मनुष्य प्रति मिनट १३ से १५ श्वास प्रश्वास लेता है। इस प्रकार रात दिन २४ घंटों में कुल संख्या २१६०० तक होती है। यह संख्या प्रति मिनट जिसकी जितनी कम होगी उसकी उतनी ही आयु अधिक होगी। अतएव श्वास–प्रश्वास की संख्या पर नियंत्रण रखने से आयु बढ़ाई जा सकती है।

'स्वरों की गति'

श्वास क्रमशः निश्चित समयानुसार दोनों नासिका छिद्रों से चलती है। एक का समय पूरा हो जाने पर वह दूसरे से चलने लगती है। श्वास–प्रश्वास की इस गति का ही नाम स्वर है और इस गति का एक नासिका से दूसरे में जाना उसका उदय कहलाता है।

हमारे ऋषियों मुनियों ने इन स्वरों के चलने के नियम, उनके जानने की विधि, उनके चलने की अवधि, उनके बदलने की रीति, उनसे सम्बन्ध रखने वाले पंचतत्त्व कौन कार्य किस स्वर के चलने के समय में करना लाभ व हानिकारक होता है तथा पुरुष व स्त्री के स्वरों में क्या भेद है आदि विषयों पर भी भली–भाँति विचार किया है, जों कि संक्षिप्त रूप से आगे दिया जाता है।

(स्वर चलने के नियम)

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से तीन–तीन की बारी से चन्द्र नाड़ी अर्थात् बाएं व कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से तीन–तीन की बारी से सूर्य नाड़ी अर्थात् दाहिने नासिका से पहले श्वास निकलती है। अर्थात् शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, इन नौ दिनों में प्रातःकाल सूर्योदय के समय पहले बायीं नासिका से तथा चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, इन छः दिनों में प्रातःकाल दाहिने नासिका से श्वास का चलना आरम्भ होता है और ढ़ाई घड़ी तक रहती है। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुदर्शी अमावस्या इन नौ दिनों में सूर्योदय के समय पहले दाहिनी नासिका से इसके बाद दूसरे नकुएं (नासिका) से चलना आरम्भ होता है। चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी इन छः दिनों में सूर्य के उदयकाल से पहले बाँयी नासिका से श्वास आरम्भ होती है और ढ़ाई घड़ी के बाद दूसरी नासिका से चलती हैं यहीं मनुष्य जीवन में श्वास की गति का स्वाभाविक नियम है।

प्रतिदिन, रात दिन की साठ घड़ियों में ढ़ाई–ढ़ाई घड़ी के हिसाब से एक–एक नासिका से निर्दिष्ट क्रम से श्वास चलने के समय क्रमशः पंच तत्वों का उदय होता है। इस श्वास प्रश्वास की गति को समझकर कार्य करने पर शरीर स्वस्थ रहता है और मनुष्य दीर्घजीवी होता है व सब कार्यों में सफलता मिलने के कारण जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत होता है।

सोमवार, शुक्रवार, बुधवार को प्रातःकाल बाँयी श्वास चलते समय निद्रा भंग होने से यह दिन सुख से ही बीतेगा और दाहिनी श्वास चलने पर विघ्न व चिन्ता होगी। रवि, मंगल, गुरु व शनिवार को प्रातःदाहिनी श्वास चलते समय निद्रा भंग होने से यह दिन सुख से बीतेगा, बाँयी

श्वास चलने से विपरीत फल होगा।

वाम नासिका का श्वास फल

जिस समय बाँयी नासिका अर्थात् इड़ा नाड़ी से श्वास चलती हो उस समय स्थिर कार्यों को करना चाहिये जैसे दूर की यात्रा, आश्रम प्रवेश, इमारत बनाना, द्रव्य ग्रहण करना, कुआँ तालाब आदि बनवाना, यात्रा, दान विवाह, नया कपड़ा पहनना, औषधि सेवन, प्रभुदर्शन आदि शुभ कर्म करना चाहिये। परन्तु वायु, अग्नि और आकाशतत्त्व के उदय के समय उक्त कार्य नहीं करना चाहिये।

दक्षिण नासिका का श्वास फल

जिस समय पिंगला नाड़ी अर्थात् दाहिना स्वर चलता हो उस वक्त कठिन क्रूर कार्य जैसे :- अध्ययन, संगीत अभ्यास, समीप यात्रा, व्यायाम, षट्कर्म, औषधि, उपासना, दान पुण्य, स्नान, भोजन, जलपान, सवारी, भूतादि साधन, राजदर्शन, खरीद फरोख्त, तांत्रिक साधना, स्त्रीगमन, शास्त्राभ्यास आदि करना चाहिये।

सूर्य स्वर के समय पाचन क्रिया होती है इसलिये सूर्य स्वर के समय भोजन करना चाहिये और चन्द्र स्वर के समय शरीर संगठन का कार्य होता है।

पन्द्रह दिन तक यदि किसी की सूर्य नाड़ी चलती हो तो यह समझना चाहिए कि उसकी एक महीने में मृत्यु हो जायेगी। योगाभ्यासियों को सूर्योदय से अस्त तक सूर्य अथवा चन्द्र एक ही नाड़ी के चलते रहने का अभ्यास करना चाहिये। बारह घंटा एक ही नाड़ी का चलना सिद्ध होने पर नाड़ी में उदय होने वाले पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश तत्वों का उदयास्त समझने के लिए विशिष्ट गति की मर्यादा बताई है। प्रातः या सायंकाल ४ घंटा ४८ मिनट आकाश तत्व ही स्थिर रहता है। आकाश तत्व के उदय के समय अथवा पृथ्वी तत्व के उदय के समय,

२ या ३ मिनिट समस्वर रहते हैं अर्थात् दोनों स्वर चलते हैं। यह सुषुम्ना नाड़ी है। इसको ऐसे ही स्थिर रखकर यदि प्राणायाम किया जाए तो वह शीघ्र सिद्ध होता है।

सुषुम्ना का श्वास फल

दोनों स्वरों से श्वांस चलने पर कोई भी शुभ या अशुभ कार्य न करना चाहिये क्योंकि उसमें सफलता न होगी।उस समय योग साधन व भगवान का भजन ध्यान धारणादि करना चाहिये। इस श्वास के चलते समय किसी को श्राप या वरदान देने पर वह सफल होता है।

रोगोत्पत्ति व उसका उपचार

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से तीन–तीन दिन के अन्तर से सूर्योदय के समय पहले बाँयी नासिका से और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से तीन–तीन दिन के अन्तर से सूर्योदय के समय पहले दाहिनी नासिका से निःश्वास प्रवाहित होने का स्वाभाविक नियम है। परन्तु न हो तो समझना चाहिये कि कुछ अमंगल होने वाला है।

शुक्ल पक्ष या कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को यदि प्रातःकाल सूर्योदय के समय विपरीत स्वर चलने का पता लगने पर उस स्वर को पूरी तौर पर कई दिन तक बंद रखने पर रोग उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती। इस प्रकार दिन रात भोजन व स्नान का समय छोड़कर श्वास बंद रखने से उक्त दिनों में कोई रोग न होगा।

नाड़ी जय व स्वर बदलने का उपाय

स्वर बदलने के लिए पुरानी साफ रुई, साफ बारीक कपड़े में लपेट कर नासिक छिद्र के बराबर पोटली बनाकर इस प्रकार उस नासिका में जिसे बंद करना हो, लगाना चाहिये जिसमें उससे बिल्कुल

हवा न निकल सके और उसी के स्वर बैठना चाहिये ताकि उसी अंग पर जोर पड़े जिसको सरदर्द या और कोई सर का दर्द हो वह सिर्फ साफ पतले कपड़े की पोटली इस्तेमाल कर सकते हैं। जितने दिन या समय स्वर बंद रखना हो तो अधिक परिश्रम या धूम्रपान न करें। यदि धूम्रपान के बगैर न रह सकें तो उतने समय के लिए पोटली निकाल लें।

कार्य के अनुकूल स्वर चलने तक ठहरे रहना अत्यंत कठिन है इसलिये इच्छानुसार स्वर बदलने के लिए क्रिया सीखना अत्यंत आवश्यक है। यह क्रिया बहुत ही सरल होने के कारण इसके द्वारा आसानी से स्वर बदला जा सकता है। जिस नासिका से स्वर चलता हो उसके विपरीत दूसरी नासिका को अंगूठे से दबा लें और जिससे श्वास चलती हो उससे वायु को खींचना चाहिये। फिर उसे दबाकर दूसरे से निकालना चाहिए। कुछ देर तक इसी तरह करने से श्वास बदल जायेगी इसके अलावा जिस नासिका से श्वास चलती हो उसी करवट लेटकर उसी तरफ का हाथ सर के नीचे तकिये की तरह रखने से कुछ देर में स्वर बदल जाता है। छः महीने अभ्यास करने से नाड़ी जय, अर्थात स्वर साधन हो जाता है और फिर वह सरलता से बदल जाता है। नाड़ी जय होने पर आकाश तत्त्व जब नाड़ी में बह रहा हो तब श्वासायाम करके खेचरी साधन करें।

जो अपनी इच्छानुसार श्वास को रोक व निकाल सकता है वह वायु पर विजय प्राप्त कर सकता हैं।

स्वर साधन

स्त्री के ऋतु स्थान के चौथे दिन से सोलहवें दिन तक रात्रि के समय पुरुष के सूर्य व स्त्री के चन्द्रस्वर चलने के समय सहवास करने पर पुत्रोत्पति होती है। स्त्री पुरुष के एक ही स्वर चलने के समय सहवास से गर्भ नहीं रहता। जल तत्व के उदय होने के समय गर्भाधान से धनी, सुखी व कीर्तिवान सन्तान होती है। पृथ्वी तत्व के समय

गर्भाधान से सन्तान अति दुःखी, धनी और सौभाग्य शाली होती है। पृथ्वीतत्व के समय (गर्भाधान) गर्भ रहने से पुत्र और जल तत्व के समय गर्भ रहने से कन्या उत्पन्न होती है। अग्नि, वायु और आकाश तत्व के समय गर्भ रहने से या तो गर्भपात हो जाता है, अथवा सन्तान की शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

यदि किसी कार्य सिद्धि के लिए किसी के पास जाना हो तो जिस नासिका से स्वर चलता हो उसी ओर का पैर पहले आगे रखकर जाना चाहिये व जिस आदमी से काम हो उसको उसी स्वर की ओर रखकर बात करें इसी नियम के अनुसार मुकदमे नौकरी आदि के लिए जाना चाहिए।

श्वास की गति का प्रमाण तथा उसके निरोध से लाभ

नासिका से जो श्वास चलती है वह यदि नियत समय व तिथि के अनुसार न चले तो शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। जब शरीर में गल्ती से रोग उत्पन्न हो जायें तो स्वरों को ठीक–ठीक चलाने से वे दूर हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में श्वास की गति का प्रमाण तथा उसके निरोध आदि से क्या–क्या लाभ होते हैं, वे नीचे लिखे जाते हैं।

श्वास की साधारण गति का प्रमाण बाहर जाते हुए बारह अंगुल तथा अंदर आते हुए दस अंगुल है। श्वास को एक बार अंदर जाकर बाहर आने तक साधारण अवस्था में कुल चार सैकेण्ड लगते हैं। इस समय व गति के कम और अधिक होने से आयु घटती बढ़ती है। मनुष्य की भिन्न–भिन्न क्रियाओं में उसकी श्वास की गति का जो प्रमाण रहता है, वह इस प्रकार है।

क्रिया	श्वास की गति का प्रमाण
(१) गाते समय	१६ अंगुल तक
(२) खाते समय	२० अंगुल तक
(३) चलते समय	२४ अंगुल तक
(४) सोते समय	३० अंगुल तक
(५) मैथुन के समय	३६ अंगुल तक
(६) व्यायाम के समय	इससे भी अधिक

जो मनुष्य अपनी श्वास की गति को जितना अधिक घटा सकता है, वह अपनी आयु को बढ़ा सकता है, अतएव शांति के साथ गहरी श्वास लेना अत्यन्त लाभकारी है। इस संबंध में एक विशेष तालिका नीचे लिखी जाती है।

(१) श्वास की स्वाभाविक गति को १२ अंगुल से घटाकर ११ अंगुल कर लेता है उसके प्राण स्थिर हो जाते हैं।

(२) श्वास की स्वाभाविक गति को जो ११ अंगुल से १० कर लेता है उसे महाआनन्द प्राप्त होता है।

(३) श्वास की गति को जो १० से ९ अंगुल कर लेता है, उसमें कवित्व शक्ति आ जाती है।

(४) श्वास की गति को जो ९ से ८ अंगुल कर लेता हे, उसे वाक् सिद्धि हो जाती है।

(५) श्वास की गति को जो ८ से ७ अंगुल कर लेता है, उसे दूर दृष्टि प्राप्त होती है।

(६) श्वास की गति को जो ७ से ६ अंगुल कर लेता है, वह आकाश में उड़ जाता है।

(७) श्वास की गति को जो ६ से ५ अंगुल कर लेता है, उसमें प्रचंड वेग आ जाता है।

(८) श्वास की गति को जो ५ से ४ अंगुल कर देता है, उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(९) श्वास की गति को जो ४ से ३ अंगुल कर लेता है, उसे नव निधियाँ प्राप्त होती हैं।

(१०) श्वास की गति को जो ३ से २ अंगुल कर देता है, वह अनेक रूप धारण कर सकता है।

(११) श्वास की गति को जो २ से १ अंगुल कर लेता है वह अदृश्य हो जाता है।

(१२) श्वास की गति को जो १ अंगुल से बिंदु तक कर लेता है जब प्राण की गति प्रमाण केवल नखाग्र जितना रह जाता है तब वह अमर हो जाता है।

श्वास सम्बन्धी उपचार

(१) **बुखार** - जिस वक्त शरीर में साधारण रूप से हरारत मालूम हो उस वक्त जो स्वर चल रहा हो उसे जितने दिन शरीर पूर्ण रूप से स्वस्थ न प्रतीत हो उतनें दिन बन्द रखना चाहिए। नकुये (नासिका) में नर्म रुई रख देने अथवा जो स्वर चल रहा हो उसी करवट लेटने और उसी तरफ को हाथ मोंड़कर सरहाने की तरफ सर के नीचे कुछ देर तक रखने से स्वर बदल जाता है।

(२) **अजीर्ण व कब्ज** - जिनको रहता हो वह सदा दक्षिण स्वर की उपस्थिति में भोजन व जलपानादि क्रिया करें। भोजन के पश्चात् पन्द्रह बीस मिनिट तक लेटे रहने से भी लाभ होता है।

(३) **दर्द** - छाती, पीठ, कमर व पेट आदि में कहीं भी अकस्मात् दर्द होने पर उस समय जो स्वर चलता हो उसे बंद कर देने से कैसा भी दर्द हो शीध्र ही बंद हो जायेगा।

(४) **दमा** - जब दमे का दौरा आरम्भ और श्वास फूलने लगे तब जो स्वर चल रहा हो उसे एकदम बंद कर दें। दस ही पन्द्रह मिनिट में आराम मालूम होगा। इस रोग का जड़ से नाश करने के लिए लगातार एक महीने तक प्रतिदिन चलते हुए स्वर को बंद करके दूसरे को चलाने का अभ्यास जितना अधिक हो सके करने से दमा नष्ट हो जाता है। इस सम्बंध में जितना ही अधिक स्वर बदलने का अभ्यास किया जाएगा उतना ही अधिक और शीध्र लाभ होगा।

(५) **इच्छा पूर्ण** - सुबह आँख खुलते ही जिस ओर का स्वर चल रहा हो उस तरफ की हथेली मुखपर रखकर उसी ओर का पैर प्रथम जमीन पर रखने से इच्छा पूरी होती है।

(६) **युवावस्था प्राप्त करना** - इसके लिए इच्छानुसार स्वर बदलने का अभ्यास करना चाहिये। दिन में जब समय मिले उस वक्त जो स्वर चल रहा हो उसे बदलने का प्रयत्न करना चाहिये। इस क्रिया से युवा अवस्था प्राप्त हो सकती है। इसके साथ–साथ सुबह शाम

विपरीत करणी मुद्रा करने से अकथनीय लाभ होता है।

(७) **दीर्घायु प्राप्त करना** - श्वास की साधारण गति जो कि पहले लिखी जा चुकी है। उसकी गति व प्रमाण को कम करने से मनुष्य दीर्घायु हो सकता है। धातु की दौर्बल्यता आदि बीमारी वालों की श्वास की गति का प्रमाण अधिक तथा समय कम लगता है उसको भी इससे लाभ हो सकता है। जो मनुष्य अपनी श्वास की गति को जितना जितना कम कर सकता है वह उतनी ही अपनी आयु को बढ़ा सकता है।

(८) **निरोगावस्था** - जो दिन में बायीं ओर रात में दाहिनी नासिका से श्वास लेता है उसके शरीर में कोई रोग नहीं होता, आलस्य दूर होता है और चैतन्यता बढ़ती है। दस पन्द्रह दिन तक दिन को दाहिनी व रात को बाँयी नासिका में रुई भरकर स्वर बंद करने से इच्छा तथा ऊपर लिखे अनुसार स्वर चलने लगेंगे।

(६) **चिरयौवन प्राप्ति** - जिस समय जिस अंग में, जिस नाड़ी से श्वास चलती है उस समय उस नाड़ी का निरोध करना होगा। जो बार–बार श्वास निरोध और मोचन करने में समर्थ है। वह दीर्घ जीवन और चिरयौवन प्राप्त कर सकता है। योगी विपरीत करणी मुद्रा द्वारा कौशल से झरते हुए अमृत की सूर्य मंडल में ग्रसित होने से रक्षा करते हैं जिससे उनकी देह वली–पलित और जरा इत्यादि से रहित और दीर्घ काल तक स्थाई होती है। खेचरी मुद्रा से भी सहज ही उस अमृत की रक्षा की जा सकती है।

स्वरोदय ज्ञान के साथ–साथ पंचतत्व का ज्ञान होना भी आवश्यक है क्योंकि उसके ज्ञान बिना स्वरोदय की बहुत सी क्रियाओं का न तो पता चलता है न वह पूर्ण रूप से सिद्ध ही हो सकती है। स्वरोदय के साथ–साथ पंचतत्वों का भी उदय हुआ करता है। यह बात विशेष जानने योग्य है। पंचतत्वों का विवरण अलहदा प्रकरण में दिया गया है।

यात्रा विचार

जिस ओर का स्वर चलता हो पहले उसी ओर का पैर बढ़ाकर

यात्रा करने से शुभ फल होगा। बायें स्वर के समय पूर्व व उत्तर व दाहिने स्वर के समय दक्षिण और पश्चिम की ओर यात्रा नहीं करनी चाहिये। अन्यथा विघ्न की सम्भावना रहती है। यदि कार्य से शीघ्र गमन करना आवश्यक हो तो दाहिने स्वर के समय यात्रा करने से सफलता होती है। साथ ही उस समय जो स्वर चलता हो उसी ओर का पैर पहले आगे बढ़ाकर उस समय यदि चन्द्र स्वर चलता चलता हो तो चार बार और सूर्य चलता हो तो पांच बार जमीन पर पैर पटककर यात्रा करनी चाहिये। ऐसा करने से आपत्ति की संभावना नहीं रहती यह शिव वाक्य है। स्वरोदय के अनुसार दूर की यात्रा चन्द्र व समीप की यात्रा सूर्य स्वर के समय करने से सिद्धि होती है।

श्वास निरोध से लाभ

भोजन या जलपानादि दाहिने स्वर के चलने के समय करना चाहिये ऐसा करने से वह जल्दी पच जायेगा और कभी अजीर्ण न होगा। जिनको अजीर्ण रहता है उनका इस क्रिया के पालन से अजीर्ण दूर हो जायेगा। भोजन के बाद कुछ देर बाँयी करवट लेटने व सोने से भी भोजन जल्दी हजम हो जाता है। जो ऐसा न कर सके उनको भोजन के पश्चात कुछ देर तक अर्थात् दस पन्द्रह मिनिट तक बाँयी नाक बंद करके दाहिनी नाक से श्वास जारी रखनी चाहिये।

मृत्यु का ज्ञान

यदि आठ पहर तक दक्षिण स्वर बिना बदले चलता रहे तो तीन वर्ष के बाद मृत्यु होगी।

यदि सोलह पहर तक दक्षिण स्वर बिना बदले चलता रहे तो दो वर्ष के बाद मृत्यु होगी।

यदि तीन दिन तीन रात्रि दक्षिण स्वर चलता रहे तो १ वर्ष बाद मृत्यु होगी।

यदि दिन में सूर्य और रात्रि में चन्द्र एक मास तक बिना बदले

चलता रहे तो ६ मास में मृत्यु होगी।

यदि बीस अहोरात्रि केवल दक्षिण स्वर चलता रहे तो तीन मास में मृत्यु हो जाती है।

यदि पांच घड़ी तक सुषुम्ना चलकर न बदले तो उसी समय उसकी मृत्यु हो जाती है।

स्नान के बाद जिसके पैर, हृदय व कपाल फौरन ही सूख जाते है उसकी तीन मास में मृत्यु हो जाती है।

जो व्यक्ति अपनी नाक न देख सकता हो उसकी तीन दिन में मृत्यु हो जाती है।

दाहिने हाथ की मुट्ठी बांधकर नाक के ठीक सामने कपाल पर रखकर नीचे की तरफ उसी हाथ की कुहनी तक देखने से हाथ बहुत ही पतला नजर आता है।इस प्रकार देखने से जिस दिन हाथ की कलाई नजर न आये और हाथ से मुट्ठी अलहदा प्रतीत होने लगे उस दिन से यह निश्चय समझना चाहिये कि आयु क़ेवल छः मास रह गई है।

आँखें बंद करके अँगुली से आंख का एक किनारा दबाने से आंख के भीतर चमकता हुआ तारा नजर आयेगा। जिस दिन यह तारा दिखाई देना बंद हो जाये उस दिन से दस दिन में मृत्यु हो सकती है।

प्राण चिकित्सा

ऐसा विचार करिये कि प्राण रुग्ण प्लीहा के रेशे रेशे में भिदकर रोग को दूर कर रहा है। अस्वस्थ अंगों में प्राण का संचार करते समय, ध्यान, विश्वास और मन का संयम उस अंग को अच्छा करने में महत्वपूर्ण काम करते हैं। अब धीरे–धीरे रेचक द्वारा सांस निकाल दीजिये। रेचक करते समय विचार करिये कि प्लीहा का रोग और अशुद्धताएं बाहर निकल रही है। यह क्रिया बारह बारह बार प्रातः और इतनी ही बार सायंकाल को करनी चाहिए। कुछ दिनों में प्लीहा की सुस्ती दूर हो जायेगी। यह सच्ची प्राकृतिक चिकित्सा है। तात्कालिक या प्राचीन

कैसा भी रोग क्यों न हो प्राणायाम करते समय शरीर के किसी भी अंग में तुम प्राण का संचार करके उसे अच्छा कर सकते हो। एक दो बार पहले स्वयं अपनी चिकित्सा करने से आप को अनुभव और विश्वास हो जायेगा।

अभ्यास और ध्यान की उन्नति होने पर केवल स्पर्श मात्र ही से आप बहुत से रोग अच्छे कर सकेंगे और भी अधिक उच्चावस्था प्राप्त होने पर केवल इच्छा शक्ति से ही रोग अच्छे हो सकते हैं।

आप दूरवर्ती देश में रहने वाले किसी मनुष्य की भी इसी प्रकार चिकित्सा कर सकते हैं। आप आकाश द्वारा अपनी प्राण शक्ति कहीं भी भेज सकते हैं। परन्तु उसकी मनोवृत्ति भी ग्राहक होना चाहिये, जिस मनुष्य की चिकित्सा करनी हो उसके साथ आपका सीधा सम्बंध रहना चाहिये। पत्र व्यवहार द्वारा उसके साथ अपना समय नियत कर लेना चाहिये। उनको पत्र द्वारा सूचना दे देना चाहिये कि 'अमुक समय तैयार रहना और अपनी मनोवृत्ति ग्राहक रखकर आँखें बंद कर लेटे रहना। हम उक्त समय प्राण भेजेंगे। नियत समय पर रोगी को सम्बोधित करके कहिये। उस समय तालपूर्ण सांस लीजिये। मन में ऐसा विचार करिये कि रेचक करते समय प्राण उक्त रोगी के शरीर में प्रविष्ट हो रहा है। बेतार अर्थात् रेडियो की लहर की तरह बिजली की गति से आकाश से प्राण जाता है। प्राण भेजने के बाद कुम्भक करके आप फिर शरीर में प्राण का संचार कर सकते है। इस तरह चिकित्सा करने के लिए लम्बे, स्थिर और संयम पूर्ण अभ्यास की आवश्यकता है।

अष्टांग योग

(५) **प्रत्याहार** - अपने अपने विषयों के संग से रहित होने पर, इन्द्रियों का चित्त के रूप में अव्यवस्थित हो जाने अर्थात् इधर–उधर दौड़ने वाली सब इन्द्रियों की विषयों से निवृत्ति व निग्रह को प्रत्याहार कहते है।

पद्मासन से बैठकर केवल कुम्भक द्वारा श्वासोच्छवास की गति

रोकने से, सिद्धासन से बैठकर त्रिपुटी अथवा नासाग्र पर निमेषोन्मेष रहित दृष्टि स्थिर करने से मूर्च्छा प्राणायाम के अभ्यास से शान्तचित्त से बारह हजार प्रणव के जप करने से विपरीत कर्णी मुद्रा के अभ्यास से और मनोवृत्ति को श्वासोच्छवास लयोद्भव के स्थान में स्थिर करने से प्रत्याहार सिद्ध होता है।

इसके साधन से साधक को मनोबल व मानसिक शांति मिलती है तथा इन्द्रियों की अत्यंत वश्यता, मन की निर्बलता, लय की वृद्धि, दीनता का क्षय, शरीर की आरोग्यता और समाधि में प्रवेश करने की चित्त की योग्यता प्राप्त होती है। इसके सिद्ध होने पर प्रत्याहार के समय साधक को बाह्य ज्ञान नहीं रहता। व्यवहार के समय बाह्य ज्ञान होता है, क्योंकि व्यवहार के समय साधक शरीर यात्रा के हेतु से प्रत्याहार को काम में नहीं लाता। प्रत्याहार से इन्द्रियां अत्यंत वश में हो जाती हैं अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

सम्पूर्ण विषयों में आत्मदृष्टि करने से जो चित्त को संतोष और शांति होती है वही प्रत्याहार है और यही प्रत्याहार योगी द्वारा अभ्यास करने योग्य है।

इन्द्रियां चित्त की अपेक्षा रखती हैं। जिन–जिन कामों में चित्त प्रवृत्त होता है उन्हीं में इन्द्रियां प्रवृत्त होती हैं। जिस तरह मक्खियाँ भ्रमराज के पीछे जहां वह जाता है वहीं जाती हैं यही दशा इन्द्रियों और मन की है। जितेन्द्रिय 'मनुष्य की इन्द्रियां चित्त के पीछे दीवानी होकर उसीमें अपना अस्तित्व तक अंत में नष्ट कर देती हैं। अजितेन्द्रियों की इन्द्रियाँ अंत में चित्त को अपना अनुकरण करने के लिये विवश कर देती है। इन्द्रियों का चित्तानुकरण प्रत्याहार कहलाता है। इसके साधन से इन्द्रियां वशीभूत हो जाती हैं।

विष्णु पुराण में प्रत्याहार का इस प्रकार वर्णन है।

'शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षणि योगवित्।

कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहार परायणः।।

वश्यता परमात्मने जायते निष्कलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योग साधनः।।

अर्थात् 'योग को जानने वाला मनुष्य प्रत्याहार परायण होकर शब्दादि विषयों में लगी हुई इन्द्रियों को रोककर उनको चित्तानुकारिणी बना ले, इससे जितेन्द्रियता में दृढ़ता आ जाती है। इस दृढ़ता के बिना कोई भी योग साधक योगी नहीं हो सकता।' जितेन्द्रिय न होने के कारण ही कई योगियों को योगभ्रष्ट होना पड़ा है।

भगवान कृष्ण ने भी गीता के अध्याय–२, श्लोक ६१ में उपदेश देते हुये कहा है कि 'सब इन्द्रियों को वश में करके एकाग्रचित्त होकर मेरे परायण हो जाओ। जिसके इन्द्रियां वश में हैं उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित है। उसी को स्थित प्रज्ञ कहते हैं।'

(६) धारणा

चित्त को किसी एक देश–विशेष में स्थिर करना अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म या बाह्य–आभ्यन्तर किसी एक ध्येय स्थान में चित्त को बांध देना, लगा देना अर्थात् स्थिर कर देना 'धारणा कहलाती है।

मन को एकाग्र करने तथा अपने इष्टदेव को हृदय कमल में ध्यान करने को धारणा कहते हैं। इससे इन्द्रियों का निग्रंह भी होता है। इसका दीर्घकाल तक अभ्यास करने से चमत्कार पूर्ण पांच प्रकार के चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। पहली अवस्था में मृगतृष्णा का चिन्ह चित्ताकाश के सामने प्रकट होता है। दूसरे में धुएं का चिन्ह, तीसरी में जुगनू इसके बाद तुरन्त ही चौथा चिन्ह प्रकाश नजर आता है और अन्त में निरभ्र गगन के सदृश प्रकाश दिखाई देता है।

धारणा तीन प्रकार की होती है।

(१) आध्यात्मिक।

(२) अधि दैविक और।

(३) आधिभौतिक।

तीनों प्रकार देशों में से किसी योग्य ध्येय व देश के विषय में चित्त को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। इसके अभ्यास से चित्त की वृत्तियां स्थिर हो जाती है।

पैर की एड़ी से आरम्भ करने सहस्रार पद्म के नीचे द्वादश कमल तक सोलह स्थानों में प्राणवायु को धारण करना चाहिए। धारणा सिद्धि के लिए आगे लिखी मुद्राओं का अभ्यास श्रेष्ठप्रद है।

(१) अगोचरी (२) भूचरी, (३) चाचरी (४) शाम्भवी।

श्रीमद्भागवत व पुराणों में दो प्रकार की धारणायें है। भगवान के दो रूप है। (१) स्थूल (२) सूक्ष्म, विष्णु पुराण में (१) 'मूर्त' अथवा 'विश्व' तथा (२) 'अमूर्त' अथवा 'सत्' बतलाया गया है। भागवत के अनुसार धारण के दो भेद है :–

(१) वैराज धारणा अर्थात् मूर्तिमान।

(२) अन्तर्यामि धारणा अर्थात अमूर्त धारणा।

जो स्थान ध्येय का आश्रय भूत है, उस स्थान पर चित्त को एकाग्र करके लगा लेना धारणा है। 'देशवन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो.द.३/१) अर्थात् चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्येय के आधार स्थान पर लगा लेना धारणा हैं।

(१) वैराज धारणा अर्थात् मूर्तिमान धारण :-

पहले भगवान के स्थूल रूप में ही धारण तथा ध्यान लगावे, अर्थात् पहले भगवान के विराट रूप की धारणा करें। भागवत के दूसरे स्कन्द में भगवान के विराट् रूप का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। स्थूल होने के कारण मूर्तरूप में मन सरलता से लगाया जा सकता है। इसी को वैराज धारणा कहते हैं।

(२) अन्तर्यामि (अमूर्त) धारणा :-

जब वैराज धारणा सध जाय तब अमूर्त धारणा का साधन करना चाहिये। इसका भी भागवत के दूसरे अध्याय तीसरे स्कन्द के अट्ठाइसवें अध्याय ग्यारहवें स्कन्द के चौदहवें अध्याय में वर्णन है। अर्थात् अपने

शरीर के भीतर ऊर्ध्वनाल वाले अधोमुख हृत पुण्डरीक को ऊर्ध्वमुख विकसित अष्टदल वाला तथा कर्णिका युक्त ध्यान करे। कर्णिका में क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के मंडल को रक्खें। इस अग्नि के अन्दर भगवान श्री कृष्ण की मनमोहनी मूरत का ध्यान करे। इस रूप की धारणा का ध्यान उस वक्त तक करें जब तक मन निश्चल न हो जाय।

जहां कहीं मन जाय वहां-वहां ब्रह्मदर्शन करना, यहीं उत्तम धारणा है। धारणा दस प्रकार की है।

आरम्भ में धारणा नाभि में पश्चात् क्रमशः हृदय, वक्षस्थल, कंठ, मुख, नासिकाग्र, नेत्र भ्रूमध्य व मूर्धस्थान एवं परात्परतर आदि दस धारणायें हैं।

(७) ध्यान

ध्यान कहते है इष्टदेव अथवा किसी वस्तु विशेष के निरंतर चिन्तन को या उस पर चित्त को स्थिर करना, धारणा के देश में चित्तवृत्ति का तैलधारा वत् अखंड प्रवाह तथा मन का निर्विषय होना ध्यान कहलाता है।

पांच ध्यान बुद्धों द्वारा अधिष्ठित सत्ता के पांच अवयवों अर्थात रूप संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान पर मन को एकाग्र करना ध्यान कहलाता है।

प्रत्यय की एकतानता को भी ध्यान कहते हैं। भागवत में इसका भी वर्णन है। जब हृत कर्णिका में भगवान के समग्र शरीर की धारणा निश्चल तथा स्थिर हो जाय तब प्रत्येक अंग का ध्यान करना चाहिये। अंगों का क्रम इस प्रकार है। चरणों से लेकर हंसते हुए मुखतक इनका वर्णन भागवत के तीसरे स्कन्द के अट्ठाइसवें अध्याय में देखने योग्य है। भगवान के चरणारविन्द से आरम्भ करके ऊपर बढ़ता जाय और अंत में मुखारविन्द की मंद मुस्कान पर अपना ध्यान जमावे। भगवान के उन चरणकमलों का ध्यान करना जिसमें वज्र, अंकुश, ध्वजा तथा कमल के चिन्ह बने हैं। जिनमें ऊंचे उठे हुए लाल लाल नखों की ज्योत्सना ने

सत्पुरूषों के ह्रदय के अंधकार को दूर कर दिया है। ह्रदय में रहने वाले भगवान के उस ध्यानापन्न स्वरूप हास्य का जिसमें नीचे के होठ की लालिमा भीतर की कुन्दन कली भी दन्तपंक्ति की अरुणा आभा प्रदान कर रही है। इसी प्रकार के स्वरूप का पूर्ण प्रेम व भक्ति भाव से एकाग्र व स्थिर चित्त से ध्यान करें।

(८) समाधि

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है जिस समय केवल ध्येय स्वरूप का ही भान होता है और अपने स्वरूप के भान का अभाव सा रहता है। ध्यान करते–करते जब योगी का चित्त ध्येयाकार को प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येय में तन्मय हो जाता है, ध्येय से भिन्न अपने आप का ज्ञान उसे नहीं सा रह जाता है, उस स्थिति का नाम समाधि है।

योग शब्द 'युज्' धातु के बाद करण और भाववाच्य में घञ् लगा देने से बनता है। 'युज्' धातु का अर्थ है समाधि अतएव योग शब्द का वास्तविक अर्थ समझने के लिए 'समाधि' शब्द का भी वास्तविक अर्थ समझना होगा, समाधि शब्द के अर्थ हैं सम्यक रूप से भगवान में मिल जाना। जीव की कामना, वासना, आसक्ति में संस्कार आदि सब प्रकार की मलिनता को दूर कर स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर भगवान में युक्त हो जाना। योग शब्द के अंदर भी हम इन्हीं दो शब्दों को निहित देखते हैं अर्थात् योग शब्द का अर्थ भी जीव और ब्रह्म का पूर्ण रूप से मिलना यानी जीव और ब्रह्म का एकत्व प्राप्त करना।

तुर्या अवस्था तथा जीवात्मा और परमात्मा के निरंतर एक्य चिन्तन को समाधि कहते है। ध्यान के बाद ही समाधि का स्थान है उस समय भक्ति से द्रवीभूत ह्रदय आनन्द से रोमांचित होकर उत्कण्ठा से आंसुओं की धारायें बहाने वाला भगवत् भक्त अपने चित्त को भी ध्येय पदार्थ से उसी भांति अलग कर देता है जैसा मछुआ मछली को कांटे से अर्थात् उस समय निर्विषय मन अर्चिकी तरह गुह प्रवाह से रहित होकर लय प्राप्त कर लेता है, ब्रह्माकार में परिणित हो जाता है।

इस प्रकार भगवान में जिसका पूर्ण प्रभाव हो गया हो, जो प्रेमानन्द से पुलकित होकर वारंवार अश्रुधारा में नहाता रहता है, जिसने संसार का आश्रय छोड़ दिया है और पूर्ण विरक्त हो गया हो वह बत्ती जल जाने पर दीपशिखा की महज्ज्योति में मिलने के समान निर्वाणपद को प्राप्त हो जाता है।

धारणा, ध्यान और समाधि इनके युगवत् अभ्यास का नाम संयम है। इन्द्रिय, अहंकार, मन आदि पर संयम करने से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ और अनुभव प्राप्त होते हैं।

नींद की तरह समाधि भी स्वभावतः होती है। निद्रावस्था में 'मैं' का भान होता है, परन्तु समाधि में नहीं। समाधिस्थ पुरुष मृत व्यक्ति की तरह सुस्थिर जड़ की तरह अचल होता है। वृक्ष के साथ मनोयोग होने पर श्वास प्रश्वास बंद हो जाती है और ब्रह्म से वियोग होने पर वह फिर चलने लगती है। शरीर का सुन्न हो जाना, किसी के द्वारा शरीर को छूने पर भी बोध न होना समाधि अर्थात् ब्रह्म कृपा का एक प्रमाण है। इसे योग निद्रा भी कहते है। ध्येय वस्तु को प्राप्त हुआ मन जब अपने ध्यान का परित्याग करके और संकल्प विकल्प से रहित होकर केवल ध्येय वस्तु के स्वरूप में स्थित होता है तब उसकी उस अवस्था को योगी जन समाधि कहते हैं। ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान का अलग–अलग ज्ञान रहता है परन्तु समाधि में इनका पृथक्–पृथक् भान नहीं रहता केवल ध्येयाकार रूप से ही सबकी प्रतीति होती है। ध्यान और समाधि में यही विभिन्नता है।

(१) समप्रज्ञात् अर्थात सविकल्प समाधि :

जिसमें ज्ञाता और ज्ञानादि के विकल्प लय अनपेक्षा हो और अद्वितीय ब्रह्म के आकार की आकारता हो, वह चित्तवृत्ति का अवस्थान है। इसमें चित्त की वृत्ति का ब्रह्म में लय कर देना होता है और इसका कुछ विचार नहीं रहता कि ज्ञाता और ज्ञान में भेद है या नहीं। जैसे मिट्टी के हाथी में मिट्टी का ही भान होता है। उसी तरह द्वैत में भी अद्वैत का भान होता है।

इसमें किसी न किसी एक अवलम्बन की आवश्यकता रहती है। इसमें प्रज्ञा (समाधि) के संस्कार भी रह जाते हैं। यह समाधि चित्त की एकाग्र अवस्था में होती हैं।

(२) असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्विकल्प समाधि :

इसमें बुद्धि व वृत्ति का अद्वितीय ब्रह्म में उसी का आकार बनकर एक भाव से अवस्थान हो जाता है। इसमें ज्ञाता व ज्ञानादि के भेद को कोई अपेक्षा नहीं रहती। जेसे लवण जल में मिलकर जलरूप ही हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म में चित्तवृत्ति के लीन हो जाने से ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं देता।

इसमें कोई अवलम्बन नहीं रहता सब वृत्तियां लीन हो जाती है। यह चित्त की निरुद्धावस्था में होता है और पर वैराग्य इसका कारण है। इसमें प्रज्ञा (समाधि) के संस्कार भी नहीं रहते। इसके अंत में चित्त का विनाश हो जाता है तब धर्म मेघ समाधि होती है। इसी अवस्था को आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। यही जीव का अंतिम लक्ष्य है जिससे वह कृत्य कृत्य हो जाता है।

'मैं ही ब्रह्म हूँ' 'परब्रह्म मैं हूँ' इस सम्यक् स्थिति को समाधि कहते है। इसमें कोई भी वृत्ति नहीं रहती।

सोया हुआ सा जो चलता है, स्वभाव से ही जो सर्वत्र निश्चल है, ऐसा योगी निर्वाण पद का आश्रय करके कैवल्य पद प्राप्त करता है।

योग समाधि में नाभिस्थित योगाग्नि की शिखा शिर (सर) में पहुंच कर ब्रह्मरन्ध्र स्थित अमृत को गला देती है। इस अमृत को योगी–बड़े प्रेम से पीता है। केवल इसी योगामृत को पीकर वह महीनों बिना खाये–पिये जीवित रह सकता है।

जो योगी पूर्ण रूप से चैतन्य हीन हो जाता है, जिसको इतना भी ज्ञान नहीं रहता कि 'मैं हूं' वहीं योगी योग निद्रित है। उस योगी में सर्वगुण और क्रिया शक्ति वर्तमान रहने पर भी वह पूर्णरूप से निर्गुण और निष्क्रिय हैं।

निद्रावस्था में 'मैं हूं' इसका ज्ञान न रहने पर भी 'मैं रहता है, मृत्यु होने पर 'मैं हूं' इसका ज्ञान न रहने पर भी 'मैं' रहता है, परन्तु योग निद्रा में 'मैं' नहीं रहता बल्कि योग निद्रा भंग होने पर ही 'मैं' का ज्ञान होता है।

जिस तरह इच्छा करने पर नींद नहीं आती उसी तरह समाधि भी इच्छा करते ही नहीं लग जाती। जिस तरह नींद स्वभावतः आती है उसी तरह समाधि भी स्वभावतः होती है, निद्रा अभ्यास से या आँखें बन्द कर लेने से नहीं आती। उसी तरह आसन लगाकर व आँखें बंद करके बैठ जाने से ही कोई समाधिस्थ नहीं हो जाता।

समाधिस्थ पुरुष मृत व्यक्ति की तरह सुस्थिर व जड़ की तरह अचल होता है।

समाधि में ब्रह्म के साथ मनोयोग होने पर श्वास प्रश्वास बंद हो जाती है, उस समय रेचक व पूरक दोनों नहीं होते। समाधि में एक प्रकार से योगी की मृत्यु हो जाती है और ब्रह्म से उसका वियोग होने पर श्वास प्रश्वास फिर चलने लगती है। इस प्रकार समाधि की स्थिति ब्रह्म कृपा का एक आश्चर्यजनक प्रमाण है।

समाधि के समय लकवा लग जाने की तरह शरीर सुन्न हो जाता है। किसी स्पर्श आदि करने पर उसे उसका बोध नहीं होता। उस समय किसी प्रकार के कष्ट का भी अनुभव नहीं होता, वह अवस्था सुख दुःखादि से परे होती है।

जिनको निर्विकल्प समाधि होती है उनको आहार के सम्बंध में कोई विधि निषेध नहीं रहती उनको किसी प्रकार की आसन व मुद्रा नहीं करनी पड़ती। वह सदानन्द व जीवन मुक्त पुरुष हैं।

निर्विकल्प समाधि में कंठ व नाभि श्वास बंद हो जाती है। बल्कि नाड़ी भी स्थिर हो जाती है। मृत व्यक्ति की तरह सब अंग ठंडे पड़ जाते है। उसे विदेह व कैवल्यावस्था कहते हैं, उस अवस्था में देह में रहने पर भी देह के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उस अवस्था में उनकी देह जला देने या टुकड़े–टुकड़े कर देने पर भी उनको कोई कष्ट नहीं होता।

समाधि की आवश्यकता

पदार्थों के आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपों को जानने के लिए समाधि की आवश्यकता है। अतएव हमें गुरु की सेवा में बैठकर योगाभ्यास करना चाहिये। पहले हठयोग के द्वारा शरीर को शक्तिशाली बनाकर फिर राजयोग का अभ्यास करना चाहिये। यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान अर्थात् योग के इन पाँचों अंगों का धीरे–धीरे अभ्यास करते हुए ध्यान समाधि में अग्रसर होना चाहिये। साधना करते–करते जब साधक समाधि अवस्था में पहुँच जाता है तब वह पदार्थो के आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपों को देख पाता हैं तभी उसे आत्म दर्शन होता है।

अन्तर बाह्य विषयों से चित्त को बाँध रखना तथा अन्य विषयों से निवृत्त कर किसी एक विषय में चित्त और स्थिर करने का नाम 'धारणा' हैं। धारणा का परिणाम 'ध्यान' है। किसी विषय में चित्त का धृत होना, स्थिर होना, उस विषय में प्रत्यय या चित्तवृत्ति की एकतानता होना, ध्येय आलम्बन से भिन्न अन्य विषय में चित्तवृत्ति का न जाना, ध्येयाकार में चित्तवृत्ति का एक तान प्रवाह 'ध्यान' कहलाता है और ध्यान–परिणाम समाधि है। ध्यान ही जब ध्येयाकार में भासमान होकर प्रत्यात्मक वृत्तिस्वरूप ज्ञान को त्याग कर अवभासित होता है तब उसे 'समाधि' कहते है।

समाधि का प्रयोजन

मनुष्य क्या चाहता है? इस प्रश्न का सरल उत्तर है–आनन्द, सत्ता, चित्त व ज्ञान। इसके साथ ही वह यह सब बातें न्यून मात्रा में नहीं बल्कि अधिक मात्रा में चाहता है। तभी उसकी तृप्ति होती है। अतएव अब प्रश्न उठता है कि वे कहाँ और कैसे मिलते हैं? हमारा स्वयं का अनुभव ही हमें यह बतलाता है कि संसार में तो यह मिलते नहीं। यदि संसार में हम इन बातों का अनुभव करते हैं तो यह हमारी नितान्त अज्ञानता ही है, क्योंकि संसार के जितने पदार्थ हैं वह सब क्षणिक और मायिक है,

स्थायी और वास्तविक नहीं अतएव हमें क्षणिक लाभ त्यागकर स्थायी लाभ प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना चाहिये। वह हमें किस प्रकार मिल सकता है? इसका उत्तर हम अपनी तरफ से न देकर भगवान याज्ञवल्क्य के शब्दों में ही देते हैं, उन्होंने कहा कि 'अयं तु परमो धर्मोयद्योगेनात्मदर्शनम्' अर्थात समाधि द्वारा मनुष्य अपने सब प्रकार के अभीष्ट करने में समर्थ है। भगवान पतन्जलि ने भी अपने ग्रन्थ विभूतिपाद में लिखा है कि 'समाधि द्वारा ही आनन्द' ऐश्वर्य की चरमावस्था प्राप्त हो सकती है'। श्रुति कहती है कि समाधि द्वारा जो आनन्द प्राप्त होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

पातन्जलि योग दर्शन के अनुसार समाधि के मुख्यतया दो प्रकार है। (१) सम्प्रज्ञात (२) असम्प्रज्ञातः– असम्प्रज्ञात की अपेक्षा सम्प्रज्ञात बहिरंग है।

यह (संयम रूप) सम्प्रज्ञात समाधि भी निर्बीज समाधि की अपेक्षा वहिरंग ही है। इस असम्प्रज्ञात योग को ही निर्वीज समाधि, कैवल्य चित्तशक्ति रूप स्वरूप प्रतिष्ठा आदि नामों से पातन्जलि योगशास्त्र में कहा है और उस योगी की सदा के लिये अपने चिन्मय स्वरूप में स्थिति हो जाती है, तथा किसी के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। उस अवस्था में संसार के बीज का अत्यन्त अभाव हो जाता है इसीलिये यह निर्वीज नाम से प्रसिद्ध है।

सम्प्रज्ञात योग के मुख्य ४ भेद है :

(१) वितर्क के सम्बन्ध से जो समाधि होती है उसका नाम 'वितर्कानुगम'

(२) विचार के संबंध से होने वाली का नाम 'विचारानुगम'।

(३) आनन्द के सम्बंध सें होने वाली का नाम 'आनन्दानुगम'।

(४) अस्मिता के संबंध से होने वाली को 'अस्मितानुगम' समाधि कहते है।

(१) वितर्कानुगम :

आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी यह पांच स्थूल भूत और शब्द स्पर्श, रूप, रस व गंध यह पांच स्थूल विषय हैं इन पदार्थों में होने वाली समाधि को 'वितर्कानुगम' समाधि कहते हैं। इसमें केवल पांच भौतिक स्थूल शरीर एवं सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि सहित यह स्थूल ब्रह्माण्ड के अंतर्गत है। इस वितर्कानुगम समाधि के भी दो भेद हैं। (१) सवितर्क और (२) निर्वितर्क

(१) सवितर्क या सविकल्प :

ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य उन स्थूल पदार्थों में शब्द, अर्थ व ज्ञान के विकल्पों से संयुक्त सभापति का नाम 'सवितर्क' समाधि है। जैसे कोई सूर्य में समाधि लगाता है तो उसमें सूर्य का नाम सूर्य का रूप और सूर्य का ज्ञान, यह तीनों प्रकार की कल्पना रहती है अर्थात् जिस पदार्थ में योगी समाधि लगाता है उस पदार्थ के वाचक या नाम को तो शब्द, तथा वाच्य अर्थात् स्वरूप को अर्थ और जिससे शब्द अर्थ के सम्बंध का बोध होता है उसको ज्ञान कहते हैं जैसे सूर्य, यह शब्द तो सूर्यदेव का वाचक है, सारे विश्व को प्रकाशित करने वाला आकाश में जो सूर्य मंडल दिखाई देता है वह सूर्य शब्द का वाच्य है और उस मंडल को देखकर यह सूर्य है, ऐसा जो बोध होता है उसका नाम ज्ञान है।

इसलिये इसे 'सवितर्क या सविकल्प' समाधि कहते हैं।

(२) निर्वितर्क या निर्विकल्प :

स्मृति के परिशुद्ध होने पर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से चित्तवृत्ति भलीभांति रहित होने पर, जिसमें साधक को अपने ज्ञान का अभाव सा होकर केवल अर्थ अर्थात् ध्येय मात्र की ही प्रतीति रहती है, उसका नाम 'निर्वितर्क' सभापति (समाधि) है। जैसे सूर्य का ध्यान करने वाला पुरुष मानों अपना ज्ञान भूलकर तद्रूपता को प्राप्त हो जाता है और उसको केवल सूर्य का स्वरूप मात्र ही प्रतीत होता है

इसका नाम 'निर्वितर्क' समाधि है। इसमें विकल्पों का अभाव होने के कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

(२) विचारानुगम :

शब्द, स्पर्श, रूप रस व गंध आदि सूक्ष्म तन्मात्रायें, मन बुद्धि, अहंकार और मूल प्रकृति एवं दश इन्द्रियां, इनमें होने वाली समाधि का नाम 'विचारानुगम' समाधि है। कुछ लोग इन्द्रियों में होने वाली समाधि को 'आनन्दानुगम' समाधि मानते हैं। परन्तु ऐसा मानना युक्त संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि महर्षि पतंजलि कहते हैं कि इस सवितर्क और निर्वितर्क के भेद के अनुसार ही सूक्ष्म विषयवाली, सविचार और निर्विचार समाधि की व्याख्या समझना चाहिये। सूक्ष्म विषय की मर्यादा, स्थूल पंच भूतों को और स्थूल विषयों को छोड़कर मूल प्रकृति पर्यन्त बतलाई गयी है। इससे सूक्ष्म विषय की व्याख्या के अन्तर्गत ही इन्द्रियाँ आदि आ जाते हैं तथा सूक्ष्म विषयता की सीमा अलिंग अर्थात् मूल प्रकृति तक है। मूल प्रकृति तक होने से दृश्य का सारा सूक्ष्म विषय 'विचारानुगम समाधि' के अन्तर्गत आ जाता है।

इस विचारानुगम समाधि के भी दो भेद हैं (१) सविचार (२) निर्विचार।

(१) सविचार - स्थूल पदार्थों को छोड़कर शेष मूल प्रकृति पर्यन्त सम्पूर्ण ग्रह और ग्राह्यों के नाम (शब्द) रूप (अर्थ) ज्ञान के विकल्पों से संयुक्त सभापति (समाधि) का नाम सविचार समाधि है। तीनों प्रकार के विकल्पों से युक्त होने के कारण, इस सविचार समाधि को सविकल्प भी कहते हैं अर्थात् ध्यान में जो ध्याता, ध्यान ध्येय की त्रिपुटी रहती है और सवितर्क व सविचार समाधि में केवल ध्येय विषयक ही शब्द अर्थ ज्ञान से मिला हुआ विकल्प रहता है तथा समाधि में केवल ध्येय, मात्र का स्वरूप मात्र ही रह जाता है इसीलिये यह समाधि, ध्यान से उत्तर एवं समाधि की पूर्वावस्था हैं। इसे तटस्थ समाधि भी कहते हैं।

(२) निर्विचार - जिसमें उपर्युक्त स्थूल पदार्थों को छोड़कर शेष

मूल प्रकृति पर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्यों में स्मृति के परिशुद्ध होने पर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से चित्तवृत्ति के भलीप्रकार रहित होने पर जिसमें योगी को अपने स्वरूप के ज्ञान का अभाव सा होकर केवल अर्थमात्र की ही प्रतीति रहती है, उसका नाम 'निर्विचार तथा निर्विकल्प' समाधि है।

ग्रहण तेरह है - पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन, बुद्धि व अहंकार ग्राह्य पदार्थों के ग्रहण करने के द्वारा होने के कारण इनको 'ग्रहण' कहते हैं।

इनके सिवाय स्थूल, सूक्ष्म व समस्त जड़ दृश्य वर्ग ग्राह्य हैं। यह उपर्युक्त तेरह ग्रहणों के द्वारा पकड़े जाने वाले होने से इनको 'ग्राह्य' कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि दृश्य मात्र जड़ हैं और इस जड़ में होने वाली समाधि का नाम 'वितर्कानुगम' और 'विचारानुगम' समाधि है।

कार्य सहित प्रकृति जो दृश्य वर्ग है, उसी का नाम बीज है, इसलिये उसको लेकर होने वाली समाधि का नाम सबीज समाधि है।

(३) आनन्दानुगम :

अन्तःकरण की स्वच्छता से उत्पन्न होने वाले आह्लाद अर्थात् प्रियं, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियों में जो समाधि होती है, उसका नाम 'आनन्दानुगम' समाधि है। उपर्युक्त वितर्क और विचार यह दोनों समाधियां तो केवल जड़ में अर्थात् दृश्यपदार्थों में हैं, परन्तु यह केवल जड़ में नहीं है, क्योंकि आनन्द की उत्पत्ति जड़ और चेतन के सम्बन्ध से होती है। इस आनन्द में आत्मा की भावना करने से विवेक ख्याति द्वारा आत्मा का साक्षात्कार भी होता है। अर्थात् सत्व और पुरुष की ख्याति मात्र से सब पदार्थों पर स्वामित्व और ज्ञातृत्व की प्राप्ति होती है और उसमें वैराग्य होने से संशय विपर्यय से रहित निर्मल विवेक ख्याति होती है, इसीको 'सर्वथा–विवेक ख्याति' भी कहते हैं। इससे धर्ममेध' समाधि लाभ और

क्लेश कर्म की निवृत्ति होकर कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती हैं।

यह 'धर्ममेघ' समाधि सम्प्रज्ञात योग नहीं है। असम्प्रज्ञात योग 'निर्वीज समाधि' की पूर्वावस्था है क्योंकि इससे समस्त क्लेश कर्मों की निवृत्ति होकर कैवल्य पद की प्राप्ति है।

यह धर्ममेघ समाधि सम्प्रज्ञात योग नहीं है। असम्प्रज्ञात योग निर्वीज समाधि की पूर्वावस्था है क्योंकि इससे समस्त कलेश कर्मो की निवृत्ति होकर कैवल्य पद की प्राप्ति होती है।

(४) अस्मितानुगम

चेतन दृष्टा की चिन्मय शक्ति एवं बुद्धि शक्ति इन दोनों की जो एकता सी है उसका नाम 'अस्मिता' है।

पुरुष और बुद्धि की एकरूपता की सी प्रतीति होना 'अस्मिता' है अर्थात् 'वितर्कानुगम' और 'विचारानुगम' समाधि के जैसे 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क' तथा 'सविचार व निर्विचार दो दो भेद होते है। वैसे ही 'आनन्द' और 'अस्मिता' के दो–दो भेद किये जा सकते हैं। इसलिये बुद्धवृत्ति और पुरुष की चेतन शक्ति के एकता के से स्वरूप में जो समाधि होती है उसका नाम 'अस्मितानुगम' समाधि है। आनन्दानुगम तो चेतन पुरुष और बुद्धि के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले आह्लाद में होती है। किन्तु यह समाधि चेतन पुरुष और बुद्धि की एकात्मा की सी स्थिति में होती है। इस समाधि से पुरुष और प्रकृति का पृथक–पृथक रूप से ज्ञान हो जाता है। उस सत्व पुरुष के पृथक–पृथक ज्ञान मात्र से समस्त पदार्थो के स्वामित्व ज्ञातृत्व की प्राप्ति होती है।

फिर इन सब में वैराग्य होने पर, क्लेश कर्म के मूलभूत अविद्या रूप दोष की निवृत्ति होकर, पुरुष 'कैवल्य' अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

'असम्प्रज्ञात योग' अर्थात् निर्वीज समाधि तो संकल्पों का अत्यन्त अभाव होने के कारण 'निर्विकल्प' है ही किन्तु 'सम्प्रज्ञात योग' में 'निर्वितर्क' और 'निर्विचार' आदि सबीज समाधियां भी विकल्पों के अभाव

होने के कारण 'निर्विकल्प' हैं।

'ग्रहण' और ग्राह्यों में तथा आनन्द और बुद्धि सहित ग्रहीता में होने वाला असम्प्रज्ञात योग बतलाया जाता है। चेतन रूप ग्रहीता के स्वरूप में होने वाली समाधि का नाम असम्प्रज्ञात योग है। इसमें दृश्य के अभाव से, दृष्टा की अपने स्वरूप में समाधि होती है।

चित्तवृत्तियों के अभाव के अभ्यास से उत्पन्न हुई स्थिति, जिसमें केवल चित्त निरोध के संस्कार ही शेष रहते हैं। यह असम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है और चित्त निरोध के ही संस्कार रह जाते हैं।

गुण और गुणों के कार्य में अत्यन्त वैराग्य होने से समस्त दृश्य का आलम्बन चित्त से छूट जाता है, दृश्य से सदा अत्यन्त उपरामता होकर चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। क्लेश कार्यों का नाश हो जाता है तथा क्लेश कर्मों का नाश हो जाने से, उस योगी का चित्त के साथ संबंध अत्यन्त विच्छेद हो जाता है। सत्, रज, तम, गुणमयी प्रकृति उस योगी को मुक्ति देकर कृतार्थ हो जाती है। यह योगी की कैवल्य अवस्था अथवा चित्त शक्ति रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है। इसी को 'निर्बीज' समाधि कहते हैं।

संप्रज्ञात योग में जिस पदार्थ का आलंबन किया जाता हैं उस पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होकर योगी को भूमियो में वृद्धि होते होते शेष में प्रकृति पुरुष तक का यथार्थ में ज्ञान हो जाता है और उसमें वैराग्य होने से कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु असम्प्रज्ञात योग में तो शुरू से ही दृश्य के आलम्बन का त्याग किया जाता है जिससे दृश्य अत्यंत अभाव होकर, त्याग करने वाला केवल चेतन पुरुष ही बचा रहता है, वही उसकी कैवल्य अवस्था है। अर्थात 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' का प्रधान भेद यह है कि सम्प्रज्ञात योग तो किसी को ध्येय बनाकर अर्थात् किसी को आलम्बन करके किया जाता है। यहां आलम्बन ही बीज हैं। इसलिये किसी को आलम्बन बनाकर उसमें समाधि होती है। उसका नाम सबीज समाधि हैं। किन्तु असम्प्रज्ञात योग में आलम्बन का

अभाव है। आलम्बन का अभाव करते—करते अभाव करने वाली वृत्तियों का भी अभाव होने पर जो समाधि होती है, वह असम्प्रज्ञात योग है। निरालम्बन होने के कारण इसको निर्वीज समाधि भी कहते हैं।

ऊपर बतलाये हुए असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि दो प्रकार से होती है। जिनमें एक का नाम 'भवप्रत्यय' और दूसरे का नाम 'उपाय प्रत्यय' है। जो पूर्व जन्म में विदेह और प्रकृति लय तक पहुंच चुके थे वे ही योग भ्रष्ट पुरुष इस जन्म में 'भव प्रत्यय' के अधिकारी हैं, शेष सब मनुष्य 'उपाय प्रत्यय' के अधिकारी हैं उनमें 'भव प्रत्यय' यह है। विदेही और प्रकृतिलयों को भव प्रत्यय होता है।

भव नाम है जन्म का और प्रत्यय नाम है प्रतीति प्रकट होने का। जन्म से ही जिसकी प्रतीति होती है। अर्थात् जोजन्म से ही प्रकट होता है, उसे 'भव प्रत्यय' कहते हैं। अथवा भवात् प्रत्ययः भव प्रत्ययः। भवात् नाम जन्म से, प्रत्यय नाम ज्ञान, जन्म से ही है ज्ञान जिसका अर्थात् जिस सम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति का, उसका नाम है 'भव प्रत्यय' सारांश यह है कि विदेही और प्रकृति लय योगियों को।

प्रकृति लय

उनको कहते हैं जिनमें निर्विचार समाधि द्वारा प्रकृति पर्यन्त संयम करने की योग्यता हो गई हो। इस प्रकार के योगियों को आध्यात्म प्रसाद होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति हो जाती हैं।

निर्विचार समाधि में वैशारद्य अर्थात् प्रवीणता होने पर, आध्यात्म प्रसाद होता है, रज, तमरूप मल और आवरण का क्षय होकर, प्रकाश स्वरूप बुद्धि का स्वच्छ प्रवाह निरंतर बहता रहता है, इसी का नाम 'वैशारद्य' है। इससे प्रकृति और प्रकृति के सारे .पदार्थों का संशय विपर्यय रहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इसका नाम 'आध्यात्म प्रसाद' है। यह सम्प्रज्ञात योग की निर्विचार समाधि है।

विदेह और प्रकृतिलय योगियों का विषय बतलाकर अब साधारण मनुष्यों के लिये, असम्प्रज्ञात योग प्राप्त करने के लिए 'उपाय प्रत्यय' कहते हैं।

जो विदेह और प्रकृति लय नहीं है। उन पुरुषों को श्रद्धा वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक, विराम प्रत्यय के अभ्यास द्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

(१) **श्रद्धा** - योग की प्राप्ति के लिए अभिरुचि या उत्कृष्ट इच्छा को उत्पन्न करने वाले विश्वास का नाम 'श्रद्धा' है। जिनका अन्तःकरण जितना शुद्ध अर्थात् मलदोष से रहित होता है, उतनी ही उसमें जन्म से ही, असम्प्रज्ञात होग की प्राप्ति विषयक ज्ञान का अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि प्रज्ञा की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि इन सबका साधन उनके पूर्व जन्म में हो चुका है। इसलिये पूर्व जन्म के संस्कार बल से उनको पर वैराग्य होकर विराम प्रत्यय के अभ्यास पूर्वक अर्थात चित्तवृत्तियों के अभाव के अभ्यास अर्थात् दृश्य रूप आलम्बन के अभाव के अभ्यास से असम्प्रज्ञात अर्थात 'निर्बीज' समाधि हो जाती है।

भगवान श्री कृष्ण ने श्रीमद् भगवद्गीता के अध्याय ६/४३/४४ में कहा है कि 'योगभ्रष्ट मनुष्य पूर्वजन्म में साधन किए हुए वृद्धि के संयोग को अनायास ही प्राप्त हो जाता हैं उसके प्रभाव से फिर अच्छी प्रकार यत्न करता है।

(२) **वीर्य** - योग की प्राप्ति के लिये साधन की तत्परता उत्पन्न करने वाले उत्साह का नाम वीर्य है क्योंकि श्रद्धा के अनुसार उत्साह और उत्साह के अनुसार ही साधना में तत्परता होती और उस तत्परता से मन व इन्द्रियों के संयम की भी सामर्थ्य हो जाती है।

(३) **स्मृति** - अनुभूति विषय का न भूलना अर्थात् उसके निरंतर स्मरण रहने का नाम 'स्मृति' है। इसलिये यहाँ आध्यात्मिक बुद्धि के द्वारा सूक्ष्म विषय में जो चित्त की एकाग्रता होकर, एकतानता है अर्थात स्थिर स्थित है, उसको 'स्मृति' कहते हैं।

(४) **समाधि** - फिर उसी में अपने स्वरूप का अभाव सा होकर, जहां केवल अर्थ मात्र ध्येय वस्तु का ही ज्ञान रह जाता है, उसका नाम 'समाधि' है।

(५) प्रज्ञा - ऋतम्भरा प्रज्ञा ही यहाँ प्रज्ञानाम से कथित हुई है। उपर्युक्त समाधि फल स्वरूप यह ऋतम्भरा प्रज्ञा योगी को प्राप्त होतीहै। ऋत सत्य का नाम है। उसको धारण करने वाली बुद्धि का नाम ऋतम्भरा है। विशेष अर्थवाली होने से यह प्रज्ञा श्रुत और अनुमान जन्य प्रज्ञा से अन्य विषय वाली है अर्थात श्रुति, स्मृति द्वारा सुने हुए, और अपनी साधारण बुद्धि के द्वारा अनुमान किये हुए विषयों से भी इस बुद्धि के द्वारा विशेष अर्थ का अर्थात् यथार्थ का अनुभव होता है।

इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान से संसार के पदार्थों में वैराग्य और उपरति उत्पन्न होकर, उससे आत्मविषयक साधन में आने वाले विषयों का अभाव हो जाता है। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न ज्ञान रूप संस्कार अन्य दृश्य जन्य संस्कारों का बाधक है इसलिये उपर्युक्त प्रज्ञा के संस्कारों द्वारा विराम प्रत्यय का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् विषय सहित चित्त की समस्त वृत्तियों के विस्मरण का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास करते–करते दृश्य का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दृश्य का अत्यन्त अभाव होने पर, दृश्य का अभाव करने वाली बुद्धि वृत्ति का भी स्वयमेव निरोध हो जाता है और इसका निरोध होने पर निर्बीज समाधि हो जाती है। यही इस योगी स्वरूप में स्थित है या यों कहये कि कैवल्य पद की प्राप्ति है।

भगवान श्री कृष्ण ने भगवद्गीता में अध्याय ४/३६ में कहा हैं कि जितेन्द्रिय, तत्पर, श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवद् प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

सारांश यह है कि अन्तःकरण की स्वच्छता से श्रद्धा होती है। श्रद्धा से साधन में तत्परता होती है, तत्परता से मन और इन्द्रियों का निरोध होकर परमात्मा स्वरूप में निरन्तर ध्यान होता हैं, इस ध्यान से परमात्मा के तत्व का यथार्थ ज्ञान होता है और ज्ञान से परम शान्ति की प्राप्ति होती है। इसी को भगवत् प्राप्ति, परम धाम की प्राप्ति आदि नामों से गीता में बतलाया गया है। और यहां इस प्रकरण में इसी को 'निर्बीज' समाधि या 'कैवल्यपद' की प्राप्ति कहते हैं।

प्रकृति–विकृति रहित अद्वितीय सर्वान्तर्यामी स्वयं प्रकाश चैतन्य ज्योतिः स्वरूप शुद्ध असंग प्रत्याभिन्न ब्रह्म विषयक समाधि चैतन्य समाधि कही जाती है, यह समाधि ही जिज्ञासु का कर्तव्य है। इस चैतन्य समाधि वाले योगी के भी यदि विषय वासना शेष रह गयी हो तो प्रत्येक चेतन का साक्षात्कार नहीं होता, किंतु वासना के अनुसार उत्तम लोकों की ही प्राप्ति होती है। जब तक अणु मात्र भी विषय वासना रहेगी तब तक आवरण भंग नहीं होगा। अतएव स्वामी गौड़पाद कहते हैं कि इस चैतन्य समाधि का नाम ही अस्पर्श योग है, यह समाधि द्वैत दृष्टि वाले योगियों को प्राप्त होना दुर्लभ है। समाधि दो प्रकार की होती है। (१) सविकल्प (२) निर्विकल्प।

(१) सविकल्प समाधि

व्युत्थान–संस्कारों का तिरस्कार और निरोध संस्कारों के प्रकट होने पर अन्तःकरण का एकाग्रतारूप परिणाम समाधि है। ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेयरूप त्रिपुटी मानसहित अद्वितीय वृत्त विषयक अन्तःकरण की वृत्ति की स्थिति सविकल्प समाधि है। यह सविकल्प समाधि भी दो प्रकार की है। (१) शब्दानुविद्ध (२) शब्दाननुविद्ध 'अहं ब्रह्मास्मि' – इस शब्द भान के सहित होने से समाधि शब्दानुविद्ध कही जाती है। और शब्द मान से रहित शब्दाननुविद्ध कही जाती है त्रिपुटी भान सहित अखंड ब्रह्माकार अन्तःकरण की वृत्ति की स्थिति निर्विकल्प समाधि है। इस प्रकार समाधि के दो भेद हैं। इनमें सविकल्प साधन है। और निर्विकल्प फल है। जो सविकल्प समाधि है, उसमें यद्यपि त्रिपुटी रूप द्वैत प्रतीत होता है, तथापि वह द्वैत ब्रह्म रूप से ही प्रतीत होते है। जैसे मृत्तिका के विचार घटादि विवेकी को प्रतीत भी होते हैं तो भी मृत्तिका रूप से ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही सविकल्प समाधि में विवेकी को त्रिपुटी द्वैत ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है। यद्यपि निर्विकल्प समाधि में भी सविकल्प समाधि की तरह त्रिपुटी द्वैत विद्यमान है, तथापि त्रिपुटी द्वैत की प्रतीति नहीं होती। जैसे जल में नमक डालने पर वहाँ नमक मौजूद है, परन्तु नेत्रों से दिखाई नहीं देता (पड़ता) अतएव सविकल्प और

निर्विकल्प समाधियों का यह भेद स्पष्ट हो गया कि सविकल्प समाधि में ब्रह्मरूप करके द्वैत प्रतीत होता है। और निर्विकल्प में द्वैत की प्रतीति नहीं होती।

(२) सुषुप्ति निर्विकल्प समाधि

सुषुप्ति में ब्रह्माकार वृत्ति नहीं होती और निर्विकल्प में अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति तो रहती ही है, परन्तु वृत्ति का भान नहीं रहता। सुषुप्ति में बैठा हुआ शरीर गिर पड़ता है, समाधि में नहीं गिरता। इससे मालूम होता है कि समाधि में अन्तःकरण की वृत्ति रहती है। समाधि से उठने पर ब्रह्माकार वृत्ति की प्रतीति है, इससे भी निर्विकल्प समाधि में अनावृत्ति की अनुवृत्ति अवश्य रहती है। यद्यपि निर्विकल्प समाधि में प्रयत्न नहीं है। तथापि प्रथम के प्रबल प्रयत्न से निर्विकल्प समाधि में ब्रह्माकार वृत्ति का प्रवाह अवश्य रहता है, इसके अतिरिक्त सुषुप्ति में अन्तःकरण का लय अज्ञान में होता है और निर्विकल्प समाधि में जल प्रक्षिप्त नमक की तरह चैतन्य में अन्तःकरण का लय होता है। सुषुप्ति में आवरण रहता है, आत्म विषयक निर्विकल्प में आवरण नहीं रहता। सुषुप्ति में आवृत्त आनन्द का अनुभव होता है, निर्विकल्प में निरावरण आनन्द स्वरूप का अनुभव होता है। यम नियमादि प्रयत्न के विना चित्त का लय निद्रा है, यम नियमादि प्रयत्न पूर्वक चित्त का लय समाधि हैं।

निर्विकल्प समाधि के दो प्रकार

एक अद्वैतभावना रूप निर्विकल्प समाधि होती है। दूसरी अद्वैत अवस्थान रूप होती है। जो अद्वैत ब्रह्माकार अन्तःकरण की अज्ञात वृत्ति सहित हो वह अद्वैत भावना रूप निर्विकल्प समाधि है। इसके अधिक अभ्यास से जब अन्तःकरण की वृत्ति शांत हो जाती है तब वृत्ति रहित अद्वैत अवस्थान रूप निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। जैसे गरम लोहे पर जल की बूंद गिरी हुई गरम लोहे में प्रवेश करती है, तद्‌वत् अद्वैतभावना रूप समाधि के दृढ़ अभ्यास से अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्म में वृत्ति का लय होता है।

यहां यह रहस्य है कि यद्यपि अवस्थान रूप समाधि में रज, तम का तिरोधान हो चुका है।

तथापि शुद्ध सत्व गुण विद्यमान है एवं शुद्ध सत्वगुण रूप उपादान में ही वृत्ति के लय का सम्भव है, निर्विकार वृत्त प्रकाश में नहीं। गरम लोहे पर जल बिन्दु का जो दृष्टान्त कहा है, वहाँ भी विचार दृष्टि से पार्थिव लोहे में जल बिन्दु का लय नहीं होता किन्तु जल का उपादान जो अग्नि है उसी में जल बिन्दु का लय होता है, तप्त लोहे में उपचार मात्र है। तथापि ब्रह्म प्रकाश में मानरूप निमित्त से वृत्ति का लय हुआ है। अतः उपचार से ब्रह्म प्रकाश में लय कहा है। अथवा उस समाधिनिष्ठ ब्रह्म विद्वद्वरिष्ठ की दृष्टि से गुणादिक हैं ही नहीं, शुद्ध ब्रह्म ही है, ब्रह्म का विवर्त ही निखिल विश्व है। अतः प्रकाश रूप ब्रह्म में वृत्ति का लय कहा हैं।

निर्विकल्प समाधि के विघ्न

निर्विकल्प समाधि के चार विघ्न हैं। (१) लय (२) विक्षेप (३) कषाय (४) रसास्वाद।

(१) **लय** - आलस्य और निद्रा से वृत्ति के अभाव को लय कहते हैं। लय से सुषुप्ति के समान अवस्था हो जाती है, ब्रह्मानन्द का भान नहीं होता। अतः निद्रा आलस्यादिक निमित्त से जब वृत्ति का लय होता मालूम हो तब साधक को सावधान होकर वृत्ति को जमावे, आँखों में जल और कपूर लगा लेवें।

(२) **विक्षेप** - अनात्म पदार्थों को दुःख का हेतु जानकर अद्वैतानन्द के विषय–करने के लिए अन्तर्मुर्ख हुई वृत्ति को कुछ काल स्थित के बिना चैतन्य स्वरूप आनन्द का लाभ नहीं होता, क्योंकि वृत्ति का विषय चेतन अति सूक्ष्म हैं। अतः वृत्ति बहिर्मुख होकर पुनः अनात्म पदार्थों में लग जाती है। इस रीति से बहिर्मुख वृत्ति को विक्षेप कहते हैं। अतः वृत्ति के अन्तर्मुख होने पर जब तक वृत्ति ब्रह्माकार न होवे तब तक वाह्य

पदार्थों में दोष भावना ही करें। वृत्ति को बहिर्मुख न होने दे किन्तु अन्तर्मुख ही स्थापन करें।

(३) कषाय - रागादिक दोषों को कषाय कहते हैं। राग दो प्रकार का होता है। (१) आन्तर (२) बाह्य। भूत और भावी का चिन्तन रूप मनोराज्य आन्तर है, पुत्र–धनादि के प्रति वर्तमान विषयक राग, द्वेष मोहादिक बाह्य हैं: इन से अन्तःकरण क्षिप्त होता है। ओर क्षिप्त अन्तःकरण का योग में अधिकार ही नहीं है। यह समाधि के भी विरोधी हैं। साधक को चाहिये कि वह इनको साधन द्वारा दबा दें।

(४) रसास्वाद - साधक की वृत्ति जब लय, विक्षेप और कषाय के न होने से अन्तर्मुख हो तब ब्रह्म साक्षात्कार के पहले विक्षेप की निवृत्ति से वैसा ही आनन्दभास होता है जैसे बोझा ढोने वाले मनुष्य को बोझ के उतर जाने से होता है। जिस तरह मनुष्य दुःख की निवृत्ति से आनन्दित होता हे। उसी तरह साधक समाधि में इन विध्नों की निवृत्ति से परमानंदित होता है।

यदि योगी सविकल्प समाधि से होने वाले आनन्द ही में सन्तोष मान ले तो वह निर्विकल्प समाधि के आनन्द से वंचित रह जायगा इसलिये साधक असंग होकर पूर्ण वैराग्य के अभ्यास से निर्विकल्प समाधि के लिए ही प्रयत्न करें।

श्री स्वामी गौड़पाद जी ने लिखा है कि 'सर्व बाह्य शब्दादि व्यवहार सम्बन्ध सर्व प्रपंच चिन्ताओं व क्लेशों से रहित, सदा स्वयं प्रकाशमान, ज्योतिः स्वरूप, अचल, भयादि तथा द्वैत रहित स्वरूप का नाम ही समाधि है।

षट् समाधि

समाधि नीचे लिखे अनुसार छः प्रकार की होती हैं

(१) अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि।

(२) अन्तःशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि (इन दोनों के अभ्यास से प्राप्त)

(३) अन्तर्निर्विकल्प समाधि।

(४) बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि।

(५) बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि (इन दोनों के अभ्यास से प्राप्त)

(६) बाह्य निर्विकल्प समाधि – वृत्ति अन्तरंग और बहिरंग, दो प्रकार की होती है वृत्ति जब अन्तर्मुख होती है अर्थात् भीतर की ओर प्रविष्ट होती है। तब उपर्युक्त त्रिविध अन्तरंग समाधियों का अभ्यास करें, और वृत्ति जब बहिर्मुख होकर बाह्य दृश्य में क्रीड़ा करनें लगती है तब उपर्युक्त त्रिविध बहिरंग समाधियों का अभ्यास करें। इससे जहाँ भी मन जाय वहीं समाधि कर ली' इस प्रकार अखंड़ समाधि प्राप्त होती है। इन समाधियों का अभ्यास कैसे करना चाहिये यह आगे लिखा जाता है।

(१) अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि

अन्तर में काम, क्रोधादि जो वृत्तियां हैं वे ही 'दृश्य' हैं। इन दृश्यों के भावाभाव का साक्षी शुद्ध चेतन रूप मैं हूँ इस प्रकार चिन्तन करना–वृत्ति को साक्ष्याकार करना अर्थात् साक्षी में लीन करना ही 'अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है।'

(२) अन्तःशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि

'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' इत्यादि श्रुति के श्रवण और चिन्तन से स्वयं प्रकश रूप आत्माकार वृत्ति करना ही 'अन्तशब्दानुविद्ध सविकल्प' समाधि है।

अन्तर्दृश्यानुविद्ध और अन्तःशब्दानुविद्ध समाधियों के अभ्यास से होने वाली।

(३) अन्तर्निर्विकल्प समाधि

इसमें चित्त की स्थिति 'अचल दीपवत्' अर्थात दृश्य और शब्द दोनों सम्बन्ध छूट जाते हैं और अचल दीप शिखा की तरह साक्ष्याकार वृत्ति होती है।

(४) बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि

बाहर जगत के पदार्थो को देखकर होने वाली नामरूपाकार

वृत्ति को त्यागकर अर्थात नाम और रूपगण मायांश को त्यागकर उसके अस्ति भाँति प्रियरूप ब्रह्मांश का अनुसंधान करना 'वाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि' है।

(५) बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि

'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' "सदैव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि तत्पर निर्देश करने वाले वाक्यों से चराचर जगत का ब्रह्मरूप का चिंतन करना 'वाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है'

(६) बाह्य निर्विकल्प समाधि

बाह्यदृश्यानुविद्ध और बाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधियों के अभ्यास से जो स्थिति होती है। वह 'बाह्य निर्विकल्प समाधि' है।

जिसमें नाम रूपों को देखते हुए अस्ति–भाँति प्रियरूप की ओर ध्यान बंधता है, वृत्तिनिस्तरंग होकर ब्रह्माकार होती है। उस स्थिति को 'बाह्य निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। वह 'निस्तरंग मुद्रवत्' अथवा 'कल्पाम्बुनीरवत्' होती है।

आत्म साक्षात्कार और जगन्मिथ्यात्व का निश्चय होने पर भी जीवन्मुक्त को नामरूपाकार जगत् की प्रतीति होती ही है। अभ्यास की दृढ़ता से जगत का मिथ्याभास नहीं रह जाता। ऐसी समाधि उपर्युक्त षट् समाधियों के अभ्यास से प्राप्त होती है, उसका वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता। यह समाधि सप्त भूमिका की छठी भूमिका है।

उत्थान और अनुत्थान में भी, अप्रमत्त और जितेन्द्रिय होकर यत्न शील साधक इस समाधि षट् का अभ्यास करें। मायाजनित 'आवरण' और विक्षेप' जब तक सर्वथा नष्ट नहीं होते अर्थात् आत्मा के ऊपर तद्विपरीत जमी हुई अनात्मबुद्धि (ब्रह्म में होने वाली जगत् बुद्धि) जब तक समूल नहीं उखड़ जाती तब तक इस समाधि का निरंतर अभ्यास करना चाहिये। इसमें कभी प्रमाद न हों' मोक्ष की इच्छा करने वाला विद्वान् (श्री शंकाराचार्य) इस अभ्यास में कदापि प्रमाद (भूलगफलत व आलस्य) न होने दें। कारण सूर्यास्त काल में जैसे अंधकार, वैसे ही प्रमाद में माया का उद्भव होता है। वे तत्वज्ञानी पुरुष स्वानुभूति छोड़कर एक क्षण भी नहीं रहते, कारण यह जानते हैं कि स्वानुभूति में प्रमाद का होना ही

ज्ञानियों की मृत्यु है, यम मृत्यु नहीं।

इन षट् समाधियों में पहली तीन समाधियां अपने भीतर साधने की है और आगे की तीन समाधियां सम्पूर्ण द्वैतनिवृत्ति के लिये बाहरी दृश्य जगत् में साधने की हैं।

समाधि सिद्ध होने का उपाय :

प्रसिद्ध योगिराज श्री भार्गव किंकर योगत्रयान के स्वामी का कहना है कि कोटि जन्म पर्यन्त कच्छ साधन द्वारा योगाभ्यास करने पर भी समाधि सिद्ध नहीं हो सकती जब तक कि भगवान में दृढ़ व सच्ची श्रद्धा भक्ति न होगी, भक्तिमान की समाधि बात की बात में सिद्ध हो जाती है। अतएव जो समाधि सिद्ध करना चाहते हों उनको भगवान के प्रति पूर्ण रूप से आत्म समर्पण करना चाहिये।

'समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्' (पतंजलि)

अर्थात ईश्वर को आत्म समर्पण करने पर ही समाधि सिद्ध होती है। योग साधन में प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि होती है। इनके करने से विशुद्ध, अनाहत और मूलाधार इन तीन चक्रों में जो तीन ग्रन्थियां है उनका भेदन होकर कुण्डली जाग उठती है और सहस्रार में पहुंचती है। वहां शिव और शक्ति का संयोग होता है यही समाधि, योग की चरम सीमा है। योगी तब सब दुःखों और दोषों से मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त करता है। उस समय का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्वर्ग और पृथ्वी के नष्ट होने पर भी वह काकभुंशुड़ि की तरह रह सकता है वह अपना जरा और जीर्ण शरीर स्वयं अपनी इच्छा से छोड़ता है। यदि वह चाहे तो अपनी इच्छानुसार उसे किसी काल तक भी रख सकता हैं। वह जीर्ण अंगों व शरीर को नया कर सकता है। गृहस्थ योगी तो नियत समय पर शरीर छोड़ देते हैं। परन्तु विरक्त योगी सैकड़ों वर्षो तक पहाड़ों व जंगलों में रहते हैं।

'ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु सदेवा न तु मानुषः'

अर्थात् योगी मनुष्य ईश्वर सदृश हो जाता है। वह चाहे जो कुछ कर सकता है। उसमें सृष्टि, स्थिति संहार करने की शक्ति आ जाती है।

षट् चक्र साधन

इस संसार में जितने प्रकार के साधन हैं उनमें चार प्रकार के साधन ही श्रेष्ठ हैं।

(१) वेद विहित साधन चतुष्टय।

(२) सांख्य प्रदर्शित साधन त्रय।

(३) योग शास्त्रोक्त साधन।

(४) तन्त्र शास्त्रोक्त साधन।

परन्तु कलिकाल में तन्त्र शास्त्रोक्त साधन ही प्रशस्त और सिद्धि प्रद हैं। यही शास्त्र की उक्ति है। महानिर्वाण तन्त्र में कहा गया है कि कलिकाल में मनुष्य तप से हीन, वेद पाठ से रहित और अल्पायु होंगे, वे दुर्बलता के कारण उस प्रकार के क्लेश और परिश्रम के सहने में समर्थ न होंगे। अतएव उनसे दैहिक परिश्रम किस प्रकार से सम्भव हो सकता है। कलिकाल में गृहस्थ लोग केवल आगमोक्त विधानों के अनुसार ही कर्मानुष्ठान करेंगे। दूसरी प्रकार की विधियों से अर्थात वैदिक, पौराणिक, औरस्मार्त समस्त विधियों का अवलम्बन करके क्रियानुष्ठान करने से सिद्धि लाभ करने में कदापि समर्थ न होंगे।

चित्र नं. (१) में भ्रूमध्य हं ळं क्षं 'सोऽहं' मंत्र के दो बीज दिखायें हैं। इनके अन्तर्गत, अँकार बीज से पहले स्वरोत्पत्ति, पीछे व्यंजनोत्त्पत्ति हुई। भ्रूमध्यगत आज्ञा चक्र के नीचे विशुद्धाख्य, अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान और मूलाधार चक्रों में क्रम से इस वर्णोत्पत्ति का क्रम दिखाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन चक्रों से ही मातृकात्मक स्वरमाला और वर्णमाला उत्पन्न हुई है। इसी कारण ही हिन्दी (संस्कृत) को देव भाषा कहते हैं।

इस चित्र में यह दिखाया गया है कि विशुद्धाख्य चक्र के समीप रुद्र ग्रन्थि, मणिपुर के पास विष्णु ग्रन्थि और मूलाधार के पास ब्रह्म ग्रन्थि है। इन मातृकाओं के स्थान शरीर में आगे दिये अनुसार है।

अ, आ, क, वर्ग ह	कंठ स्थान
इ, ई च वर्ग	तालु स्थान
ऋ ॠ, र वर्ग	मूर्धा स्थान
लृ, लॄ, त वर्ग ल, स,	दन्त स्थान
उ, ऊ, प वर्ग	ओष्ट स्थान

इन उत्पत्ति स्थानों को बतलाते हुये मूलाधार, मणिपुर, अनाहत व विशुद्ध नाम नहीं दिये गये हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, व वैखरी इन चार वाणियों के स्थान मूलाधार से बतलाये जाते है, शब्दोत्पति के स्थान बताये जाने पर भी अनुभव भिन्न है।

वैखरी वाणी अर्थात् शब्दोच्चारण का मूल स्थान परावाणी है। शब्द पहले वाणी से उठता है। पहले मन में वृत्ति उठती है, तब वृत्ति सदृश विचार उत्पन्न होते हैं। विचार प्रकट करने का मूल स्थान परा वाणी है। विचार जब सूक्ष्म शब्द में आता है तब उसे पश्यन्ती कहते हैं, पश्यन्ती वाणी के शब्द नेत्रों को दिखाई देने लगते हैं। यह शब्द जब अर्धवाक् और रसना की क्रिया तक आते हैं तब वह मध्यमा वाणी है और स्पष्ट शब्दोच्चार होने पर वह वैखरी वाणी हैं।

सहस्त्रार के नीचे षोड़शदल सोमचक्र है। उसके नीचे द्वादश दल सूर्य चक्र है। उसी में विचार उत्पन्न होने का स्थान है। वह मूर्धा स्थान के ऊपर है। यह चक्र सर्व मान्य योग मार्ग के श्रीहर, गोल्लार और त्रिकूट चक्रों के समीप ही है, मनश्चक्र की नाड़ी मनोवहाया अज्ञावहा नलिका है। श्रवणेन्द्रिय गोलक शब्द वह नाड़ी, नेत्रेंन्द्रिय गोलक रूपवहा नाड़ी, वागिन्द्रिय गोलक रसवहा नाड़ी, प्राणेन्द्रिय गोलक गन्धवहा नाड़ी और स्पर्शेन्द्रिय गोलक स्पर्शवहा नाड़ी है। यह सब नाड़ियाँ सहस्रार चक्र के आसपास हैं, अर्थात इनके स्थान मूलाधारः, स्वाधिष्ठान नहीं, बल्कि सहस्त्रार के समीप ही है।

आज्ञा चक्र के 'सोहं' ध्वनि में जो ऊँकार है उस से स्वर और व्यंजन उत्पन्न हुए। इन्हीं को वर्ण अथवा अक्षर कहते हैं। अक्षरों से पद,

पदों से वाक्य, और वाक्यों के समुदाय से भाषा बनी। अर्थात् शब्द अक्षर अविनाशी हैं। शब्दोच्चार के पूर्व वह थे, शब्दोच्चार के होते हुए भी वह हैं और उच्चार हो चुकने पर भी हैं। जैसे अंधेरे में रखी हुई वस्तु प्रकाश के पूर्व भी है, प्रकाश होने पर भी है और प्रकाश हो जाने पर भी हैं।

सहस्रार चक्र ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर चार अंगुल फैला हुआ है। जिनकी दिव्य दृष्टि हो चुकी है वे ही इन चक्रों के नाना प्रकाश रूपी मातृकाओं का अनुभव करते हैं, अन्य लोग दृढ़भावना के साथ तत्तचक्र की मातृकाओं, उनके वर्णों और तथ्यों का प्रकाश रूप में ध्यान कर सकते हैं।

षट्चक्र निरुपण में बतलाया है कि 'इह स्थाने लीने सुमुख सदने चेतसिं पुरं निरालम्बंवद्ध्वा पुरं बदध्वा' पुःमाने योनिमुद्रा और षण्मुखी मुद्रा अथवा पुरं अर्थात खेचरी मुद्रा, सिद्ध करे। प्रणव का ध्यान भ्रूमध्य में करें। 'प्रणव चारी दिशानाम' होने से अन्तःकरण के अन्तरिक्ष में 'पवन सुह्रदां वहिकणान् ज्योतिः पश्यति, इस प्रकार साक्षात्कार होता है।

तांत्रिक साधन - दो प्रकार के हैं। (१) बहिर्याग (२) अर्न्तयाग।

बहिंर्याग में गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्यादि द्वारा पूजा की जाती है। अर्न्तयाग में इन सब वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। इसमें पृथ्वी तत्व को गंध, आकाश तत्व को पुष्प वायु तत्व को धूप, तेजस (अग्नि) तत्व को दीप, रसात्मक जल तत्व को नैवेद्य रूप में कल्पना करके उसे पंचोपचार द्वारा पूजा करनी पड़ती है। षट्चक्रों का भेद ही इस अर्न्तयाग का प्रधान अंग है।

षट्चक्र

षट्चक्रों का अभ्यास हुये बिना आत्मज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष हुए बिना मन का संदेह नहीं जाता, फलतः वास्तविक ज्ञान नहीं होता। इसके प्रत्यक्ष होने का उपाय है, षट्चक्र साधन।

वायु से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से दो अंगुल नीचे चतरंगुल विस्तृत समस्त नाड़ियों का मूल स्वरूप पक्षी के अण्डे की तरह एक कंद

विद्यमान है। (पायु)

(गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) के मध्य के स्थान को कंद या मूलाधार कहते है, जिसमें से बहत्तर हजार नाड़ियां निकल कर सारे शरीर में व्याप्त हुई हैं। इनमें योगशास्त्र के अनुसार इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीन नाड़ियाँ मुख्य हैं।

इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना

चन्द्ररूपिणी इड़ा मेरूदण्ड के वाम भाग में, सूर्य रूपिणी पिंगला मेरूदण्ड के दक्षिण भाग में और चन्द्र-सूर्याग्नि रूपिणी त्रिगुणमयी सुषुम्ना मध्य भाग में विराजमान रहती है। मूल से उपस्थित इड़ा और पिंगला मेरूदण्ड के बायें और दक्षिण भाग में समस्त पद्यों को वेष्टित करके आज्ञा चक्र पर्यन्त धनुषाकार से जाकर भ्रूमध्य के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र मुख में संगत हो नासारन्ध्र में प्रवेश करती है। इन दोनों के मध्य में जो सुषुम्ना नाड़ी है, उसकी छः ग्रन्थियों में पद्माकार के छः चक्र संलग्न हैं। गुह्य स्थान में, लिंगमूल में नाभिदेश में, हृदय में, कण्ठ में और दोनों भ्रूमध्य के मध्य में, इन छः स्थानों में छः चक्र विद्यमान है। यह छः सुषुम्ना नाल की छः ग्रन्थियों के रूप में प्रसिद्ध हैं।

भ्रूमध्य के ऊपर जहां पर इड़ा और पिंगला मिलती हैं वहां पर मेरु मध्य स्थित सुषुम्ना भी इड़ा, पिंगला से जा मिलती है। इसीलिये यह स्थान त्रिवेणी कहलाता है क्योंकि शास्त्रों में इन तीनों नाड़ियों को गंगा, यमुना और सरस्वती कहा है।

इड़ा भोगवती गंगा, पिंगला यमुना नदी।

इड़ा पिंगलयोर्मध्ये, सुषुम्ना च सरस्वती।।

इस त्रिवेणी में योगवल से जो योगी अपनी आत्मा को स्नान करा सकता है।

त्रिवेणी योगः सा प्रोक्ता तत्र स्नाने महाफलं।

इस शास्त्रीय वचनं के अनुसार उनको मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऊपर लिखी छः ग्रन्थियों का भेदन करके जीवात्मा को परमात्मा के साथ संयोग करना पड़ता है। इसी को प्राकृत योग कहते हैं।

कुण्डलिनी

योग क्रिया के द्वारा मूलाधार स्थित निद्रित कुल कुंडलिनी को जाग्रत करके ऊपर लिखे छः चक्रों के द्वारा सुषुम्ना पथ में प्रवाहित करके ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहस्र दल पद्म स्थित परम शिव में लय कर देना ही लय योग का उद्देश्य है।

चक्रों के नाम (१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपुर (४) अनाहत (५) विशुद्ध और (६) आज्ञाचक्र। यह चक्र शरीर में किस स्थान पर हैं और उनका क्या महत्व है। इसका संक्षिप्त विवरण आगे लिखा जा रहा है। इन चक्रों को कुछ लोग पद्म भी कहते हैं। यद्यपि यह षट्चक्र ही कहलाते हैं लेकिन सहस्रार सहित इनकी संख्या सात हो जाती है। इसे आधार चक्र तथा चतुर्दल पद्म भी कहते हैं।

(१) मूलाधार

यह गुदा के ऊपर और लिंगमूल के नीचे सुषुम्ना के मुख से संलग्न है, अर्थात् कंद और सुषुम्ना के सन्धि स्थल में इसकी स्थिति है इसके वं, शं, षं, संवर्ण तथा चार दल हैं। इसका रक्त वर्ण है। इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी डाकिनी हैं। आधार पद्म की कर्णिकाओं के गव्हर में वज्रा नाड़ी के मुख में त्रिपुर सुन्दरी का निवास स्थान तक त्रिकोण पीठ है। वह कामरूप कोमल और विद्युत् के समान तेज पुंज हैं। उसमें कंदर्प नामक वायु का निवास है, यह वायु जीव धारक बंधुजीव पुष्प के समान विशेष रक्त वर्ण तथा कोटि सूर्य के समान प्रकाशशाली है। उक्त त्रिकोण शक्ति पीठ में स्वयंभू लिंग विराजमान हैं। जो पश्चिम, मुख, तप्त कांचन तुल्य कोमल ज्ञान और ध्यान का प्रकाशक है। इस स्वयंभू लिंग के ऊपर मृणाल अर्थात कमल की डंडी के तन्तु के सदृश सूक्ष्म शंख

वेष्टन युक्ता और साढ़े तीन वलयों के आकार की सर्पतुल्य कुंड़लाकृति नवीन विद्युत माला के समान प्रकाश शालिनी कुल कुण्डलिनी निज मुख से उस स्वयंभू लिंग के मुख को आवृत्त करके निद्रिता रहती है इसके प्रबोध की क्रियायें अति कठिन, गोप्य व गुरू प्रसोदेफलम् हैं। जिस स्थान में योगी मूलाधार स्थित स्वयंभू लिंग का चिन्तन करता है। उस समय उसकी समस्त पापराशि क्षणमात्र में ध्वंस हो जाती है तथा मन ही मन वह जिस वस्तु की कामना करता है उसकी प्राप्ति होती है। इस साधना को निरंतर करने से साधक उस मुक्ति दाता के रूप का दर्शन करता है।

स्थान–योनि। दलों के अक्षर–बं, शं, षं सं,। देव–ब्रह्मा दल–चतु। नाम तत्व–पृथ्वी,। देवशक्ति–डाकिनी,। वर्ण–रक्त,। तत्व बीज–लं। यंत्र–चतुष्कोण लोक–भू। बीजाकावाहन–ऐरावत। ज्ञानेन्द्रिय–नासिका। संलग्ननाड़ी–सुषुम्ना। गुण–गन्ध। कार्मेन्द्रिय–गुदा वज्रा, चित्रिणी व ब्रह्मा।

ध्यानफल – मनुष्यों में श्रेष्ठ, सर्व विद्या, विनोदी, अरोग्य–आनन्द–चित्त, वक्ता व काव्य, प्रबन्ध में समर्थ होता है।

इस चक्र की आकृति नीचे लिखे अनुसार है।

लाल वर्ण, चौकोण–चतुर्दल के मध्य में पूर्ण चन्द्राकांर गोला उसके बीच में पीला चौकोर यंत्र उसके मध्य में लं बीज, बीज के बीच में दाहिनी तरफ चतुर्मुखी ब्रह्म, बाई तरफ एक मुखी, त्रिशूल सहित डाकिनी देवी, मध्य में लाल रंग का छोटा सा त्रिकोण यंत्र, त्रिकोण के बीच में कुल कुण्डलिनी, 'कुण्डलिनी के ३ १/२ कोंडेलो के महाप्रकृति देवी, नीचे की तरफ स्फटिक की तरह सफेद स्वयंभू (शिव) लिंग व लिंग के नीचे ऐरावत हाथी। बाई तरफ 'सं' वर्ण और दाहिनी तरफ 'शं' वर्ण से काल धमिनी नाड़ियां निकली हैं।

(२) स्वाधिष्ठान - (षड्दल पद्म)

मूलाधार चक्र के ऊपर लिंगमूल में विद्युदवर्ण षड्दल विशिष्ट

स्वाधिष्ठान नामक पद्म है। बं, भं, मं, यं, रं, लं, यह छः वर्ण उसके दल हैं। इसमें वालाख्य सिद्ध की स्थिति है और अधिष्ठात्री देवी राकिणी (है) अवस्थान करती है। जो साधक सर्वदा इस स्वाधिष्ठान चक्र में ध्यान करते हैं वे संदेह विरहित चित्त से बहुतेरे अश्रुत शास्त्रों की व्याख्या कर सकते हैं तथा वे सर्वतो भावेन रोग रहित होकर सर्वत्र निर्भय विचरते हैं इसके अतिरिक्त उनको अणिमादि गुणों से युक्त परम सिद्धि प्राप्त होती है। स्थान– पेडू दलों के अक्षर बं, भं, मं, यं, रं लं, देव–विष्णु दल–षट्, नामतत्व–जल, देवशक्ति–राकिणी वर्ण–सिन्दूर, तत्व बीज–बं, यंत्र–चंद्राकार लोक–भुवः, बीज का वाहन–मगर, ज्ञानेन्द्रिय–रसना संलग्न नाड़ी–१ 'सुषुम्ना २–वज्रा, गुण–रस, कर्मेन्द्रिय लिंग ३– चित्रिणी, ४– वृत्त

ध्यान फल

अहंकारादि विकार नाश, योगियों में श्रेष्ठ, मोह रहित, गद्य–पद्य रचना में समर्थ।

'' इस चक्र की आकृति नीचे लिखे अनुसार है''

छः दल पद्म, रंग सिन्दूर व पद्म के बीच में, पूर्ण चन्द्राकार गोला मध्य में 'वं' वर्ण वं के ऊपर चन्द्रमा की तरह वरूण चक्र, बीच में दाहिनी तरफ विष्णु भगवान, बाई तरफ दो मुखी राकिणी देवी और उनके नीचे मगर 'रं' वर्ण से शंखिनी व सूत्रा और 'भं' वर्ण से विश्वा और दवन्तिका नाड़िया संलग्न हैं।

मणिपूर चक्र (नाभि पद्म)

स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर नाभि मूल में मेघवर्ण मणिपूरक नामक दस सुवर्णमय वर्ण दश दल पद्म हैं। पद्म में सर्व मंगलदायक रूद्र नामक सिद्ध लिंग और परम धार्मिकी देवी लाकिनी शक्ति अवस्थान करती हैं। जो योगी इस चक्र में सर्वदा ध्यान करते हैं उनकी इस लोक में कामना सिद्धि, दुःख निवृत्ति और रोग शांति होती है। इसके द्वारा वह

परदेह में भी प्रवेश कर सकता है तथा कालसे भी बचने में समर्थ हो सकता है। इसके अतिरिक्त सुवर्णादि बनाने, सिद्ध पुरुषों के दर्शन करने, भूतल में औषधि तथा भूगर्भ में निधि के दर्शन करने (की) में समर्थ होते हैं व पालन एवं संहार जैसे कार्य कर सकता है। जिस प्रकार सूर्य से सारा संसार संचालित होता है उसी प्रकार मणिपूरक चक्रं का स्थान नाभि हैं।

स्थान–नाभि, दलों के अक्षर–डं,ढ़ं, णं, तं देव–वृद्ध रूद्र (थं, दं, धं, नं, पं, फं,)

दल–दश, नाम तत्व–अग्नि, देवशक्ति–लाकिनी वर्ण–नील, तत्व बीज–रं, यंत्र–त्रिकोण लोक–स्वः, बीज का वाहन–मेष, ज्ञानेन्द्रिय–चक्षु, संलग्न नाड़ी–सुषुम्ना नाड़ी (१– तारका, कर्मेन्द्रिय–चरण, वज्रा चित्रणी, वृप्रा) २– माधवी ३– तारका, ४– इल्तिका, ५– शुक्रा, ६–तारा ७–काली, ८–विजोलिका, ६–इल्ता १०–अतीता व ११–तारा।

ध्यान फल-संहार पालन, करने में समर्थ, वचन रचना में चतुर इसकी जिह्वा पर सरस्वती नाच करती हैं।

इस चक्र की आकृति नीचे लिखे अनुसार हैं।

नीले रंग के दश दल पद्म के बीच गुलाबी त्रिकोणाकार स्वस्तिक चिन्ह उसके बीच में लाल रंग का (रं) बीज रंकार बीज अग्नि दाई तरफ त्रिमुखी लाकिनी देवी और बाई तरफ रुद्रव नीचे मेष (मेढ़ा) है।

(४) अनाहत चक्र (द्वादश दल पद्म)

मणिपूरक चक्र के ऊपर हृदय स्थल में अनाहत नामक द्वादश दल रक्त वर्ण पद्म है। इस पद्म की कर्णिका के बीच में विष्णुप्रभा से युक्त धूमवर्ण पवन देव अवस्थित है। तथा इस षट्कोण वायुमंडल में 'यं' बीज के ऊपर ईशान नामक शिव, काकिनी देवी के साथ विद्यमान हैं। कुछ लोगों के मतानुसार इनको त्रिनयनी शक्ति के साथ वाण लिंग कहा जाता है। इस वाण लिंग के स्मरण मात्र से दृष्टा, दृष्ट, दोनों वस्तुऐं प्राप्त

हो जाती है। इस चक्र में पिनाकी नामक सिद्ध लिंग और काकिनी शक्ति रहती है, जिसका ध्यान करने से इहलोक और परलोक में शुभ फल की प्राप्ति होती है। इस पद्म के ध्यान की महिमा वर्णन नहीं की जा सकती। ब्रह्म प्रभृति समस्त देवगण बहुत यत्नपूर्वक इसको गुप्त रखते हैं।

'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

इस गीतोंक्ति के अनुसार अथवाः–

हृत्पुण्डरीक मध्यस्थां प्राप्तः सूर्य समप्रभाम्।

पाशाङःकुश धरां सौम्यां वरदाभय हस्तकाम्।।

इस यंत्र के अनुसार अपने इष्टदेव का ध्यान अपने दृतचक्र में करते हैं। इस कमल के समीप कल्पतरु और मणिपीठ हैं। विश्वसार तन्त्र में कहा है कि इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही भगवान् सदाशिव हैं। त्रिगुणमय ॐकार इसी स्थान में व्यक्त होता है। इसी स्थान में वाण लिंग है। निर्वात स्थान की दीप ज्योति के समान जीवात्मा इसी स्थान में है। दृश्य जगत् के पदार्थ मेरे और यह शरीर ही 'मैं', इस प्रकार को देहात्मवादियों की जो विचार पद्धति है वही हृदय ग्रन्थि है और गुरु कृपा से वह टूट जाती है। इसी हृदय ग्रन्थि में जीवात्मा उलझा रहता है। वित्तैषणा और पुत्रैषणा के नष्ट हो जाने पर भी साधक लौकैषणा में अटक जाता है किसी से पूछिये कि इस बड़े काम को करने वाले देवदत्त कौन हैं? तो वह अपनी छाती (हृदय) पर हाथ रखकर ही अपने को देवदत्त होने का परिचय देता है। इसके लिये वह कभी मस्तक का स्पर्श नहीं करता और न आधार चक्र को ही स्पर्श करके अपना परिचय देता है। तात्पर्य यह कि जीवात्मा का वास स्थान हृदय ही है।

स्थान–हृदय, नामतत्व–वायु, देव–ईशान रूद्र, दल–द्वादश, तत्वबीज–यं, देवशक्ति–काकिनी, वर्ण–अरूण, बीज का वाहन–मृग, यन्त्र–षट्कोण, लोक–महः गुण–स्पर्श ज्ञानेन्द्रिय–त्वचा, नाड़ी–सुषम्ना, वज्रा चित्रणी व ब्रह्म दलों के अक्षर–कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, त्रं, टं, ठं कर्मेन्द्रिय–कर,

ध्यानफल – वचन रचना में समर्थ ईशित्व, सिद्धि प्राप्त योगीश्वर, ज्ञान वान, इन्द्रियजित, काव्य शक्तिवाला, परकाया प्रवेश में समर्थ।

'इस पद्म की आकृति नीचे अनुसार है'

अरुण रंग के वरदल पद्म के बीच में षट्कोण, छः कोनों का दाखी रंग का यंत्र, यंत्र के बीच में 'यं' बीज यं के बीच में दाहिनी तरफ वाण बीच में त्रिकोण (देवी का चित्र) बाई तरफ एक मुखी शिवजी, दाहिनी तरफ चतुर्मुखी काकिनी देवी, नीचे मृग पीले रंग का इस पद्म में पीता, नीला, शारदा व वन्दा नाड़ी संलग्न है।

(५) विशुद्ध षोडश दल पद्म

यह अनाहत चक्र के ऊपर होता है। इसका स्थान (कंठ) मूल में है। यह पद्म पद्माकार षोडशदल युक्त है और धूम्रवर्ण है और इसका रंग सुन्दर स्वर्ण की तरह है। इसकी कर्णिका के बीच में गोलाकार आकाश मंडल है। इस मंडल में श्वेत हाथी पर आरुढ़ आकाश 'हं' बीज के साथ विराजित है। इसकी गोद में अर्द्ध नारीश्वर शिवमूर्ति है! इन नरेश्वर का अर्द्धांग शुभ्र और अर्द्धांग सुवर्णमय है। इसे हर गौरी भी कहते हैं। इस शिव की गोद में पीतवर्ण चतुर्भुजा शाकिनी देवी (शक्ति) विराजमान है। इस चक्र में पंच स्थूल भूतों के आदि भूत महाकाल का स्थान है। इस आकाश मंडल से ही अन्यान्य चारों स्थूल भूत क्रमशः चक्र रूप में उत्पन्न हुए हैं अर्थात् आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुए है। इस चक्र में छगलान्ड नामक शिवलिंग है, और शाकिनी नामक शक्ति अर्धदेवता के रूप में विराजित है। जो प्रतिदिन इस चक्र का ध्यान करते हैं उनके लिये दूसरी साधना की आवश्यकता नहीं होती। यह विशुद्ध नामक षोड़श दल कमल ही ज्ञान रूप अंमूल्य रत्नों की खान हैं। क्योंकि इसी से रहस्य सहित चतुर्वेद प्रकाशित होते हैं। विशुद्धि चक्र इसे इसलिये कहते हैं कि जीव यहां भ्रूमध्य स्थित परमेश्वर को देखकर वासना जाल से मुक्त होता है। यही मोक्ष द्वार है।

स्थान–कंठ, नामतत्व–आकाश, देव–पंच अर्धनारीश्वर, दल–षोडश तत्व बीज–हं देवशक्ति–शाकिनी, वर्ण–धूम्र, बीज का वाहन–हाथी, यन्त्र–शून्य चक्र (गोलाकार) लोक–जन, गुण–शब्द, ज्ञानेंद्रिय–कर्ण, नाड़ी (सुषुम्ना–वज्रा, चित्रणी व ब्रह्मा), दलों के अक्षर अं आं इं, ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओ औं अं अः) कर्मेन्द्रिय–वाक्।

'इसकी आकृति नीचे लिखे अनुसार है'

दाखी रंग के १६ दल पद्म के बीच में आकाश पूर्ण चन्द्र के बीच में 'ह' कार बीज, लाल रंग का (हं) के बीच में दाई तरफ पंच मूर्ति सदाशिव, बाई तरफ पंचमुखी डाकिनी देवी उनके नीचे हाथी।

दलों में एश मारिका, माचिका, तिक्रा, वाला, सरस्वती, अमृता, श्रीखती, शिवा, सीला व कुमारिका नाड़ियाँ संलग्न हैं।

ध्यान का फल – साधक वाक्य रचना में समर्थ, ज्ञानवान्, उत्तम वक्ता, शांत चित्त, त्रिकालज्ञ, अर्थात् त्रिलोक दर्शी, सर्व हितकारी, आरोग्य, चिरंजीवी, और तेजस्वी होता है।

इस विशुद्धाख्य चक्र के ऊपर और आज्ञा चक्र के नीचे एक चक्र और है जिसे ललना चक्र या कला चक्र कहते हैं इसके बारह दल हैं। उसकी वृत्तियाँ–श्रद्धा, संतोष, अपराध, दम, मान, स्नेह, शुद्धता, वैराग्य, मनोद्वेग, क्षुधातृषा हैं। इसी चक्र के पास ब्रह्मग्रन्थि है।

(६) आज्ञा चक्र (द्विदल पद्म)

इसका नाम आज्ञा चक्र इसलिये है कि सहस्रार स्थित श्री गुरु से इसी स्थान में आज्ञा मिलती है। विशुद्ध चक्र के ऊपर ललाट मंडल के भ्रूमध्य में इसका स्थान है। इसको चन्द्रवत्श्वेतवर्ण द्विदल पद्म कहते हैं। इस चक्र में महाकाल नामक सिद्ध लिंग और हाकिनी शक्ति देवी अधिष्ठित हैं। इस स्थान में शरद् कालीन चंद के समान प्रकाशमय अक्षर बीज (प्रणव) देदीप्यमान है। यही परम हंस पुरुष है। जो इसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वे किसी भी कारण से दुःखी या शोक ताप से अभिभूत

नहीं होते।

सुषुम्ना नाड़ी की अंतिम सीमा ब्रह्मरन्ध्र है तथा यह नाड़ी मेरुदंड के आश्रय से उठी हुई है। इडानाड़ी इस सुषुम्ना नाड़ी से ही लौटकर (उत्तर वाहिनी होकर) आज्ञा पथ की दाहिनी ओर से होकर वाम नासापुट में गमन करती है। इस चक्र में पिंगला नाड़ी भी उसी रीति से बाई ओर से घूमकर दक्षिण नासापुट में गई है। इडानाड़ी वरणा नदी के नाम से और पिंगला असी नदी के नाम से अभिहित होती है इन दोनों नदियों के बीच में वाराणसी धाम और विश्वनाथ शिव शोभायमान हैं।

योगी लोग कहते हैं कि आज्ञा चक्र के ऊपर तीन पीठ स्थान हैं उनका नाम हैं विन्दु पीठ, नादपीठ और शक्ति पीठ। ये तीनों पीठ कपाल देश में रहते हैं। शक्ति पीठ का अर्थ हैं ब्रह्म बीज ॐकार, ॐकार के नीचे निरालम्ब पुरी तथा उसके नीचे षोडश दल युक्त सोम चक्र है। उसके नीचे एक गुप्त दल पद्म है जिसे ज्ञानचक्र कहते हैं। इसके एक–एक दल से क्रमशः रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द और स्वप्न ज्ञान (उत्पन्न) होते हैं। इसी के नीचे आज्ञाचक्र का स्थान है। इसके नीचे तालुमूल में एक गुप्त चक्र है। इस चक्र को द्वादश दल युक्त रक्त वर्ण पद्म कहा जाता है।

आज्ञाचक्र में योनि त्रिकोण हैं और उसमें कहते हैं कि इतर लिंग अथवा पाताल लिंग है। अग्नि, सूर्य, और चन्द्र इस त्रिकोण में एकत्र होते हैं। महतत्व और प्रकृत तत्व इसी स्थान में हैं। महतत्व के बुद्धि, चित्त, अहंकार और संकल्प विकल्पात्मक मन ये चार भेद हैं अव्यक्त प्रणव रूप आत्मा का यही स्थान है। इसी स्थान में प्रवेश करके और प्राण धारण करके योगी लोग यहां प्रयाण के समय 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् सतं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्, इस वचन के अनुसार पुराण पुरुष में प्रवेश करते हैं। आज्ञा चक्र के समीप मनश्चक्र हैं, उसके छः दल हैं। इनमें छठे दल से स्वप्नगत अनुभव और समप्रभगत ज्ञान प्राप्त होता है।

मनश्चक्र के ऊपर सोमचक्र है। उसके सोलह दल है। यही निरालम्बपुरी, तुरीयातीत अवस्था में रहने का स्थान है। इसी स्थान में

योगी जन तेजोमय ब्रह्म का अनुभव करते हैं।

इस आज्ञाचक्र के समीप कारण शरीर रूप सप्त कोष हैं इन कोषों के नाम (१) इन्दु (२) बोधिनी (३) नाद (४) अर्धचन्द्रिका (५) महानाद (६) कला (सोमसूर्याग्नि रूपिणी) (७) उन्मनी। इस उन्मनी कोष में पहुंचने पर जीव की पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात स्वेच्छा से या परमेश्वरी इच्छा से देह धारण करने में आत्मस्वरूप की स्मृति बनी रहती है। इन कोषों के ऊपर, सहस्रार के नीचे बारह दलों का अधोन्मुख कमल है। इसके नीचे सभी चक्र इसी प्रकार के अधोन्मुखी ही है। कुंडलिनी का जब उत्थान होता है तभी उर्ध्वोन्मुख होते हैं।

मूलाधार से आज्ञाचक्र तक पचास मातृकायें और पचास दल हैं। यह मातृकायें लोम विलोम मिलाकर सौ होती है।

इस पद्म में पंच सूक्ष्म भूतों के पंचीकरण द्वारा पंच स्थूल भूतों का प्रादुर्भाव होता है। इस चक्र के नीचे विशुद्ध चक्र का स्थान है।

इस पद्म के ऊपर ब्रह्मरंध्र में जहां इडा, पिंगला और सुषुम्ना का संगम होता है। उसे योगी लोग तीर्थराज प्रयाग कहते हैं। इसमें स्नान करने से साधक मुक्तिपद को प्राप्त होता है।

स्थान – भ्रूमध्य, दलों के अक्षर हं, क्षं, देव–लिंग, दल–द्विदल, नाम–तत्व–महतत्व, देवशक्ति–हाकिनी, वर्ण–श्वेत, तत्वबीज–ॐ, यंन्त्र–लिंगकार नाड़ी–सुषुम्ना वज्रा, चित्रिणी, व ब्रह्मा, बीज का वाहन–नाद, लोक–तपः।

ध्यान फल– वाक्य सिद्धि प्राप्त होती है।

' इस चक्र की आकृति नीचे लिखे अनुसार है'

दोनों तरफ अर्ध व बीच में गोल सफेद रंग का पद्म, गोला के बीच में ॐ प्रणव बीज के बीच में एतराख्यं लिंग, अर्धांग शिवजी ऊपर, अर्धचन्द्र, दाहिनी तरफ षट्मुखी हाकिनी देवी। बाई तरफ हस्ति जिव्हा व दाहिनी तरफ गान्धारी नाड़ियाँ हैं।

सहस्रार (सहस्र दल पद्म)

आज्ञा चक्र के ऊपर अर्थात् शरीर के सर्वोच्च स्थान मस्तक में सहस्रार कमल है। इसी स्थान में विवर सहित सुषुम्ना का मूल आरम्भ होता है एवं इसी स्थान से सुषुम्ना नाड़ी अधोमुखी होकर चलती है। इसकी अंतिम सीमा मूलाधार स्थित योनि मंडल है।

सहस्रार शुभ्र वर्ण है, तरुण सूर्य के सदृश रक्तवर्ण केशर के द्वारा रंजित और अधोमुखी है। इसके पचास दलों में अकार से लेकर क्षकार तक सबिन्दु पचास वर्ण हैं। इस अक्षर कर्णिका के बीच में गोलाकार चन्द्र मंडल है। यह चंद्र मंडल छत्राकार में एक ऊर्ध्वमुखी द्वादश दल कमल को आवृत्त किये हैं। इस कमल की कर्णिका में विद्युत सदृश अकथादि त्रिकोण यंत्र है। उक्त यन्त्र के चारों ओर सुधा सागर होने के कारण यह यन्त्र मणि द्वीप के आकार का हो गया है। इस द्वीप के मध्य स्थल में मणि पीठ है, उसके बीच में नाद बिन्दु के ऊपर हंस पीठ का स्थान है। हंस पीठ के ऊपर गुरु पादुका है। इसी स्थान में गुरुदेव के चरण कमलों का ध्यान करना पड़ता है। गुरुदेव ही परम शिव या परम ब्रह्म हैं। सहस्र दल कमल में चन्द्र मंडल हैं, उसकी गोद में अमर कला नाम की षोड़शी कला है, तथा उसकी गोद में निर्वाण कला है। इस निर्वाण कला की गोद में निर्वाण शक्ति रूपा मूल प्रकृति बिन्दु और विसर्ग शक्ति के साथ परम शिव को वेष्टन किये हुए है। इसके ध्यान से साधक निर्वाण मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

सहस्र दल स्थित परम शिव शक्ति को वेदान्त मत से परम ब्रह्म और माया कहते हैं तथा पद्म को आनन्दमय कोष कहते हैं। सांख्य मत से परम शिव शक्ति को प्रकृति पुरुष कहा जाता है। इसी को पौराणिक मत से लक्ष्मीनारायण, राधाकृष्ण तथा तंत्र–मंत्र से परम शिव और परम शक्ति कहते हैं।

इस चक्र में जो एक हजार दल बतलाये जाते हैं उनमें सौ तो मातृकायें और दस इन्द्रियों के दस दस गुण अथवा दस दस न्यास हैं इस हिसाब से सहस्र दल होते हैं।

देव शक्ति और असुर शक्ति मन के दो भाव हैं। नाभि मणिपुर चक्र से नीचे असुरों का क्षेत्र है और उसके ऊपर देव क्षेत्र है। नाभि कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति है। मन का जो अंश परमात्माभिमुखी हुआ है वह पद्म योनि है, उसे आगे कर देवता (इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य) विष्णु और शिव के शरणापन्न हुये हैं। विष्णु प्राण शक्ति हैं। इनका स्थान हृदय पद्म है शिव ज्ञान शक्ति है, इनका स्थान ललाट (है) या ज्ञान चक्र है। सद्गुरु हृदय कमल से साधन आरम्भ कराते हैं अर्थात् पहले विष्णु की आराधना कराकर धीरे-धीरे ललाट कमल तक पहुंचाते हैं। जीव का निवास साधन से पूर्व मूलाधार या पृथ्वी चक्र में होता है उसके ऊपर स्वाधिष्ठान (जलचक्र) है। इन तीन के ऊपर हृदय कमल तक बड़ी ऊंची सीढ़ियाँ हैं। समर्थ गुरु साधक को अपने हाथ से चौथी सीढ़ी पर बैठा देता है। इससे ऊपर की सीढ़ियाँ कम ऊँची और चौड़ी है इसलिये उन पर से फिसलने का अधिक भय नहीं रहता।

कुछ ग्रन्थकार कहते हैं कि इस चक्र में बीस विवर हैं। इनमें पचास 'पंचास मातृकाएँ गिनी जायें तो भी एक हजार दल होते हैं।

ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहस्र दल कमल स्थित है, इस स्थान को कैलास भी कहते हैं। यहां देवादि देव महादेव जी सदा विराजमान हैं और यही महेश्वर नामक परम शिव हैं। इनको नकुल भी कहते हैं। वह सदा एक रूप ही है। इस सहस्र दल पद्म में जो साधक अपनी चित्तवृत्ति को निश्चल रूप से लीन करता है वह अखंड ज्ञानरूपी निरंजन परमात्मा स्वरूपता को लाभ करता है अर्थात मुक्त हो जाता है। इस पद्म से निर्गत पीयूषधारा को जो योगी पान करता है वह अपनी मृत्यु पर विजय पाकर चिरंजीवी होता है। इसी दल में कुण्डलिनी महाशक्ति का लय होने पर चतुर्विध सृष्टि का भी परमात्मा में लय हो जाता है। मूलाधार में इस अवस्था में कुंडलिनी शक्ति निश्चय करके अपने स्थान को त्याग कर क्रमशः षट्चक्रों का भेदन करके सहस्र दल पद्म में जाकर लय को प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था में वह योगी अखंड रूपी निरंजन परमात्मा के रूप को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है।

स्थान-मस्तक, नाम तत्व-तत्वातीत, दल-सहस्र, तत्वबीज-विसर्ग

दलों के अक्षर–अ से क्ष तक, बीज का वाहन–बिन्दु, लोक–सत्यः, देव–परम ब्रह्म, शक्ति–महाशक्ति।

ध्यानफल

अमर, मुक्त, उत्पत्ति पालन में समर्थ, आकाश गामी व समाधि युक्त।

चक्र की आकृति

मस्तक पर दो बिन्दु उनके नीचे पूर्णचंद्र, जिसके बीच में पूर्णचंद्र निराकार व चंद्र में परमशिव तथा उनके दोनों तरफ दो देवियाँ विराजमान है।

ज्ञान बिन्दु

आंख बंद करके भ्रूमध्य में बिना आँख को दाबे ध्यान करना चाहिये। कुछ दिनों तक ध्यान करने पर तीन या पांच बिन्दु दिखाई देंगे, जिनमें एक काला और शेष श्वेत हैं ऐसी भावना करनी चाहिये। बिन्दु के भीतर प्रवेश करने पर भीतर का भूताकाश दिखाई देगा। उसके बाद तृतीय नेत्र प्रकट होगा जो ज्योति से घिरा होगा। उस ज्योति में वर्ण दिखाई देगा, उसमें गुहा, गुहा के भीतर चन्द्रमा और तारे दिखाई देंगे। उसके बाद अंधकार पूर्ण अपने भीतर स्वयं ले जायेंगी। उसके भीतर महाकाश है जिनमें हिरण्य वर्ण के सूर्य हैं। वहां की सब वस्तुएं 'सोऽहम्' उच्चारण करती हुई मालूम होंगी उसके बाद दूध के समान हंस और उसके बाद त्रिकोण दिखाई पड़ेगा। जिसके मध्य के भीतर ब्रह्म बिन्दु होगा ध्यान से बिन्दु का लय हो जाएगा यही यथार्थ अंतिम योग का ध्यान बिन्दु है।

अमृत कला

सहस्र दल कमल के मध्य में जो सिंहासन है उसके नीचे दो कलाओं के दो केन्द्र हैं। एक का नाम है अमृत कला और दूसरी का नाम मृत्यु कला।

एक तत्व तो सहस्र दल कमल की शाही से नीचे की तरफ उतरता रहता है उसका रंग जुगनू जैसा है। उस तत्व को देखते ही शहद से

भी सौ मधुर–मधुर सुगंधित स्वाद अपने आप आने लगता है। अगर उसे पीलो, तो फिर क्या बात है। उसी तत्व को अर्थात् उसी 'शाही श्रोत' को अमृत कला कहते हैं। उसको जानने वाला सदा व सर्वथा सोलह वर्ष का रहता है। इसलिये इस अमृत कला में 'षोड़शी' नामक शक्ति निवास करती है।

सहस्र दल पदम के 'शिव–शक्ति संयुक्त सिंहासन' के नीचे जो 'कर्णिका' है, वहीं से अमृत कला का तत्व अर्थात् पाणी श्रोत जारी है जो सद्गुरु का लाडला लड़का उस श्रोत का 'अमृत' पीने लगता है, वह खुद षोड़शी बन जाता है। षोड़शी की शक्ति ही सहस्र दल कमल के परमात्मा की आत्मा है।

यहां कैवल्य से केवल अमृत कला ही है। परन्तु जीवन के उस चंद्र की जो चांदनी वहां फैली है, उसे मृत्यु का घोर अंधकार जकड़े हुए है। अतएव यहां मृत्यु का भी केन्द्र है। एक होकर भी यहां दो है। चाँदनी रूपी जीवन है, अंधकार रूप मरण है। यहां दोनों महातत्व रहते हैं। सिंहासन के नीचे दो घटाऐं हैं। एक अमृतमयी और दूसरी मृत्युमयी है।

अमृत कला के काम

(१) अपने साधक को दीर्घ जीवन देती हुई जीवन मरण की शिक्षा देती है।

(२) अपने साधक को बुढ़ापा और मृत्यु से बचाये रहती है।

(३) अपने साधकों को ऐसे महात्माओं से मिलाती रहती है जो बहुत दिनों से उसके विद्यार्थी हैं जिससे उनका ज्ञान विस्तृत हो।

अमृत कला के स्रोत

अमृत कला का स्रोत कुंडलिनी के भीतर होता है। जिनकी कुंडलिनी जाग्रत नहीं हुई, उनको अमृत कला का परिचय नहीं हो सकता। उनके लिए अमृत स्रोत होने पर भी नहीं है क्योंकि सहस्रदल कमल कला वह अमृत वर्षण कुंडलिनी की नागिन ही पी जाती है,

जीवात्मा को पीने के लिए यह प्राप्त नहीं हो पाता है। संसार में ऐसे बहुत कम लोग हैं जिन्होंने सद्गुरु कृपा से कुंडलिनी को जाग्रत करके अमृत कला प्राप्त की है।

(१) अमृत कला का एक स्रोत प्रत्येक स्त्री में मौजूद रहता है। किसी स्त्री को दाहिनी आँख में और किसी की बाई आँख में होकर एक स्रोत नीचे की तरफ उतरता है। जिस नेत्र में गुलाबी रंगत छाई हुई हो समझ लो कि उसी तरफ से अमृत कला का (सूत्र) स्रोत आ रहा है। स्त्री को सीधा लिटा देना चाहिये और उसी नस को हाथ के अंगूठे से रगड़ना चाहिये, जो अमृत वाहिनी नस है। इस साधन से अमृत प्राप्त होता है। उसे धो डालना चाहिये। वह पानी में मिलता नहीं है। उसका रंग हिंगुल सा सुर्ख व शहद सा गाढ़ा होता है। उसमें कस्तूरी जैसी खुशबू होती है। किसी चीज में मिलता नहीं है। पारे की तरह अपनी सत्ता अलग रखता है। पीने में अत्यंत मधुर होता है और संसार की सारी मधुरता उसके सामने मात है। कम से कम एक छटाँक पीने में अमृततत्व प्राप्त होता है।

(२) हिमाचल प्रदेश में संजीवन बूटी नामक एक जड़ी होती है। उसकी पहचान यह है कि अंधेरी रात में उसका हर एक पत्ता जुगनू की तरह चमकता है। लक्ष्मण जी को इसी बूटी ने अमरत्व प्रदान किया था। सिद्ध पुरुषों में बहुतेरे इसी संजीवनी द्वारा दीर्घजीवी हो चुके है।

(३) जैसा कि खेचरी मुद्रा में बतलाया गया है कि जानकार योगी से ही जीभ का जो हिस्सा नीचे जुड़ा रहता है उसको कटवा देना चाहिये और मक्खन के सहारे जीभ को खींच–खींच कर लंबा करना चाहिये। इसके बाद शीर्षासन लगाना चाहिये। कानों को दोनों अंगूठों से बंद करें व नेत्रों को भी बंद रखे तथा तालू की तरफ जीभ को बढ़ाना चाहिये। अमृत कला को जो अमृत घट में प्रकट होता है, उसको इस साधन द्वारा जीभ से पीना चाहिये। इस साधन द्वारा कुंडलिनी का कपट हार जाता है।

अमर कला वाला सदा जीवित रहेगा, यह बात नहीं है। वह जब मरना चाहे मर सकता हैं, क्योंकि अमर कला वालों की मृत्यु उसी के

अधिकार से हो जाती है। अपना जीवन मरण अपने हाथ में कर लेना ही अमृत कला का लक्ष्य है।

जीवन के तीन दर्जे हैं

(१) मर (२) अमर (३) अविनाशी। जो सौ साल के अन्दर मर जाते हैं उनको 'मर' कहते हैं। जो लोग अपनी मृत्यु अपने हाथ में रखते हैं उनको 'अमर' कहते हैं। वे या तो स्वयं मरते हैं या कोई दोष हो जाने से कोई 'अविनाशी' उनको मार डालता है। रावण अमर था। भगवान् रामचन्द्रजी अविनाशी थे। रावण ने अपना काल अपने पलंग से बांध रखा था, उसने जानबूझकर अविनाशी रामचन्द्र से लड़ाई ठानकर अपनी मृत्यु स्वयं बुलाई। अमृत कला द्वारा सभी को दीर्घ जीवन प्राप्त करने का अधिकार है।

नवचक्र साधन

कुछ आचार्यों के मतानुसार निम्नलिखित नौ प्रकार के चक्र होते हैं, उनके मत से जो साधक षोड़शाधार इन नौ चक्रों और त्रिलक्ष्य व पांच प्रकार के व्योम नहीं जानता वह केवल नामधारी योगी है।

नवचक्र :- (१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूर (४) अनाहत (५) विशुद्धि (६) आज्ञा (७) तालु (ब्रह्मरन्ध्र) (९) सहस्रार।

षोड़शाधार :- (१) अंगुष्ठ (२) पादमूल (३) गुहदेश (४) लिंगमूल (५) जठर (६) नाभि (७) हृदय (८) कंठ (९) जिह्वाग्र (१०) तालु (११) जिह्वामूल (१२) दंत (१३) नासिक (१४) नासापुर (१५) भ्रूमध्य (१६) नेत्र।

त्रिलक्ष्य :- (१) स्वयं भू लिंग (२) वाण लिंग (३) ज्योतिर्लिंग।

पंचव्योम :- (१) आकाश (२) महाकाश (३) पराकाश (४) तत्वाकाश (५) सूर्याकाश।

सोलह आधार में दृष्टि

यह सोलह आधार पैर से लेकर सहस्रार तक है। साधक को

प्रत्येक का पृथक्–पृथक् चिन्तन करते हुए यह धारणा करनी चाहिये कि प्राण वायु पैर के अंगूठे से लेकर हर एक आधार को स्पर्श करती हुई सहस्रार तक पहुंची और वहाँ से लौटकर ऊपर के आधारों को फिर क्रमशः स्पर्श करती हुई पैर के अंगूठे तक आयी। इस प्रकार यथा साध्य कई बार चिंतन करना चाहिये। इस अभ्यास से उत्तम परिणाम यह होगा कि सत्यादि सद्‌भाव के अभ्यास से सद्‌गुणों की वृद्धि होगी और मृत्यु के समय प्राणवायु से ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा निकल कर प्राण के प्रयाण करने से जीवात्मा ऊर्ध्व लोक में जाता है। सोलह आधार इस प्रकार हैं। (१) पैर के अंगूठे (२) गुल्फ (३) जानु (४) जंघा (५) उरू (६) नितम्ब (७) मूलाधार (८) स्वाधिष्ठान (६) मणिपुर (१०) अनाहत (११) विशुद्ध (१२) आज्ञा (१३) तालु के ऊपर ललना नाड़ी (१४) हंस चक्र जो गुरु पीठ हैं। (१५) द्विदल कमल (१६) सहस्रार।

यह साकार उपासना हुई। परंतु जो निर्गुण उपासना करना चाहते हैं। उनको आगे लिखी उपासना (साधना) करनी चाहिये। सगुणोपासक भी इसे कर सकते हैं।

नाभि और दृष्टि पूजा :- नाभि के बाहरी भाग में दृष्टि जमाकर सौ बार इष्ट मंत्र जपें। संख्या ठीक रखने के लिए जप के साथ गिनती–गिनते जाना चाहिये। उसके बाद नाभि के सामने मेरूदंड के बाहरी भाग में दृष्टि जमाकर पच्चीस बार मंत्र जपना चाहिये। इसके बाद नाभि के भीतर सौ बार और भीतर भाग के सामने मेरूदंड के अंदर जहां मणिपुर चक्र है वहां पच्चीस बार जपना चाहिये। इस साधना से पाक शक्ति की भी वृद्धि होती है।

नवचक्र वर्णन

(१) मूलाधार :- यह चक्र भगाकृति है। इसमें तीन आवृत्ति हैं। यह स्थान अपान वायु का मूल देश है। कंदमूल के ऊपर अग्नि शिखा के समान तेजस्वी व इसका कामबीज 'क्ली' है। इस स्थान में स्वयंभू लिंग है। इस लिंग को तेज रूपा कुंडलिनी साढ़े तीन बार गोलाकार

लपेटे हुए अधिष्ठित है। इस ज्योतिर्मयी कुंडलिनी को जीवरूप में ध्यान करके उसमें चित्त को लय करने से मुक्ति प्राप्त होती है।

(२) **स्वाधिष्ठान** - यह प्रवालांकुर के समान पश्चिमाभिमुखी है। इसमें उड्डियान पीठ के ऊपर कुंडलिनी शक्ति का ध्यान करने से जगत् को आकर्षण करने की शक्ति उत्पन होती है।

(३) **मणिपुर** - यह नाभि चक्र है। यह पंच आवृत्त से विशिष्ट विद्युतवर्ण है। चित्तस्वरूपा मध्यशक्ति भुजंगावस्था में रहती है। इसका ध्यान करने से योगी निश्चय पूर्वक सिद्धियों का पात्र हो जाता है।

(४) **अनाहत्त** - यह चक्र हृदय देश में अवस्थित है। इसके बीच में ज्योतिः स्वरूप 'हंस' का यत्न पूर्वक ध्यान करके उसमें चित्त लय करने से समस्त जगत् वश में होता है इसमें संदेह नहीं।

(५) **विशुद्ध** - यह काल चक्र कंठ देश में स्थित है। इसके वाम भाग में इड़ा, दाहिने में पिंगला और मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। इस चक्र में निर्मल ज्योति का ध्यान करके चित्तलय करने से योगी सर्व सिद्धि प्राप्त करता है।

(६) **आज्ञा** - भ्रूमध्य में यह चक्र है। इसको बिन्दु स्थान भी कहते हैं। इसमें वर्तुलाकार ज्योति का ध्यान करने से मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

(७) **तालु** - यह ललना या तालु चक्र है। इसको घटिका स्थान व दशम द्वार मार्ग कहते हैं। इसके शून्य स्थान में मनोलय करने से लय योगी को मुक्ति प्राप्त होती है।

(८) **ब्रह्मरन्ध्र** - यह चक्र निर्वाण प्रदान करने वाला है इस चक्र में सूचिका अग्रभाग के समान धूम्राकार जालन्धर नामक स्थान में ध्यान करके चित्त लय करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(६) **सहस्रार** - यह ब्रह्म चक्र है इसमें सद्चित रूपा अर्ध शक्ति प्रतिष्ठित है। इसमें पूर्ण चिन्मयी शक्ति का ध्यान करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

इन नौ चक्रों में एक–एक चक्र का ध्यान करने वाले योगी के लिये सिद्धि और मुक्ति करतलगत हो जाती है क्योंकि वे ज्ञान के द्वारा कोदंड द्वय के मध्य कदम्ब के समान गोलाकार ब्रह्मलोक का दर्शन करते हैं और अंत में ब्रह्मलोक को गमन करते हैं।

सप्त पद्मों का ध्यान

(१) सब स्त्री पुरुषों के मस्तक के भीतर ब्रह्मरन्ध्र विशिष्ट जो सरसीरुह अधोमुखी सहस्रदल कमल हैं, उसके बीच में अर्थात् अधोमुखी सहस्रार की कर्णिका में नित्य लग्न सर्वदा मिलित श्वेत, निर्मल और अत्यंत, अद्भुत, कुल कुंडलिनी के ऊपर जाने के लिये पथरूप सूक्ष्म छिद्रयुक्त जो काण्ड अथवा नली या चित्रिणी नाड़ी है, उस चित्रिणी नाड़ी से अलंकृत जो ऊर्ध्वमुखी द्वादश वर्ण पद्म है, उस सहस्रदल कमल से संलग्न द्वादश कमल का मैं भजन करता हूं।

अधोमुखी सहस्रदल कमल के नीचे ऊर्ध्वमुखी द्वादशदल कमल है। 'हं व सः' ये दो पद्म के दल है। इन दोनों की छः बार आवृत्ति होने से बारह वर्ण होते हैं पद्म के द्वादश वर्ण होने से दलों की संख्या भी बारह ही है। अवदात निर्मल शुक्ल वर्ण कुंडली विवर कांडमण्डित–सहस्रार कमल में स्थित शिव के पास कुंडलिनी के जाने का मार्गरूप जो छिद्र है वह चित्रिणी नाड़ी द्वारा अलंकृत है। जिस तरह मृणाल के ऊपर कमल स्थित रहता है उसी तरह चित्रिणी नाड़ी रूप मृणाल शोभायमान है।

(२) त्रिकोण के अन्दर श्री गुरु का ध्यान किया जाता है। इस कारण त्रिकोण का निरूपण किया जाता है। सहस्र दल कमल और द्वादश कमल जहां पर मिले हैं उसी कर्णिका के आधार भूत स्थान में अ–क–थादि रेखाओं से चिन्हित रेखा विशिष्ट जो त्रिकोण है, उस त्रिकोण में सामने, दाहिने और बायें कोण के ह,ल,क्ष वर्णो से घिरी हुई जो अबला अर्थात शक्ति अवस्थित है। उसका काम कला रूप जो आलय है, मैं उस शक्ति स्थान का भजन करता हूं। इस अवलालय के

संबंध में 'मामल' कहते हैं कि :–

पद्मों का ध्यान

अकारादि षोडश वर्णों से वामा रेखा, ककारादि षोड़श वर्णों से ज्येष्ठा रेखा तथा थकारादि षोड़श वर्णों से रौद्री रेखा बनी है। इन तीन रेखाओं से क्लृप्त अर्थात् चिन्हिता रेखा जहाँ है, वहीं अवलालय है।

उक्त त्रिकोण के अंतराल में अर्थात् सन्मुख, दक्षिण और वाम कोण में लक्षित अर्थात् प्रकाशित ह,ल,क्ष वर्णों द्वारा घिरे हुये स्थान रूप में जिसे लक्ष्य किया जाता है अर्थात् उस रूप में जिसको जाना जाता है।

(३) सहस्रार और द्वादश दल पद्म जहां मिलते हैं, उस कर्णिका में त्रिकोण है। इसी त्रिकोण के मध्य में मणिपीठ है, उसके ऊपर श्री गुरु हैं। इस मणिपीठ में तत्पुटे, त्रिकोण के मध्य में त्रिकोण के अन्दर नीचे शुभ्र नाद, ऊपर रक्तवर्ण बिन्दु और उनके बीच में मणिपीठ है। त्रिकोण के मध्य में अवस्थित नादबिन्दु सहित इस मणिपीठ मंडल का ध्यान किया जाता है।

यह मणिपीठ प्रज्वलित विद्युत समूह के द्वारा प्रकाशित और दीप्तमान मणि समूह के द्वारा गुलाबी रंग को प्राप्त हुआ है। मणिपीठ का सर्वाङ्ग मणिमय है। नाद बिन्दु से युक्त यह मणिपीठ मंडल चिन्मय ज्ञानमय है। रजताचल (कैलाश) के साथ निज गुरु का नित्य इसी नाद बिन्दु के अन्दर उज्जवल सिंहासन पर ध्यान किया जाता है। सहस्रदल कमल के अन्दर स्थित अन्तरात्मा ही मूर्ति धारण किये हुए निज गुरु हैं।

(४) संयुक्त पद्म कर्णिका में त्रिकोण है। त्रिकोण के अंदर नीचे नाद, ऊपर बिन्दु और बीच में मणिपीठ है। मणिपीठ के ऊपर तीन अभिशिखायें हैं। इन तीन शिखाओं के प्रकाश में मणिपीठ प्रकाशित है। ऐसे मणिपीठ का ध्यान करना चाहिये।

विश्वभक्षिका विश्वसंहारिका महादीप्त शालिनी महाचिति सबसे अधिक उत्कृष्ट उस महाशक्ति का भी ध्यान करना पड़ता है। तत्पश्चात् मणिपीठ के नीचे अर्थात् जिसके ऊपर मणिपीठ है, वह है आदि हंस

युगल। यह हंस प्रकृति पुरुष रूप है।

ब्रह्मा, विष्णु शिव हैं रेखात्रय और सूर्य, चन्द्र, अग्नि है बिन्दुत्रय। विद्युत सम्पन्न त्रिकोण के मध्य में गुरु है। आदि हंस युगल को परमात्मा कहा गया है, यह दीप कलिकाकार जीवात्मा रूप हंस नहीं है।

जिस पीठ में श्री गुरु चरणारविन्द का ध्यान करना चाहिये, उसका निश्चय करके ध्यान किस तरह करना चाहिये यह आगे लिखा जाता है।

(५) श्री गुरू का चरणारविन्द कुंकुमासव अर्थात् लाक्षारस (महावर) की आभा से युक्त परमामृत की झरी अर्थात् निर्झर रूप मकरन्द के समान है। जिस तरह चन्द्रमा की अमृतमयी किरणों से ताप का नाश होता है उसी तरह चन्द्रमा की अमृतमयी किरणों के समान शीतल गुरुपद पद्म मकरन्द के सेवन से संसार कोलाहल शांत हो जाता है।

यह मंगल मनोरथ सिद्धि का स्थान है। उन गुरु चरणों में मन लगा सकने पर सब अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं।

(६) मैं मस्तक में पूर्वोक्त पीठ के ऊपर स्थित श्री गुरू पाद पद्म का ध्यान करता हूं। यह पाद पद्म कैसा है पाद पद्म से संलग्न जो मणिमय पादुका है, जिस पादुका के मणिपीठ इत्यादि का पांच स्थानों के रूप में वर्णन किया गया है उस मणि पादुका का ध्यान करने से संसार के पाप कोलाहल से सदा के लिए निवृत्ति हो जाती है। जो लोग संसार के पाप कोलाहल से अत्यंत व्यथित हैं, उनके लिये परित्राण का एकमात्र उपाय है इस महावर सृदश श्री गुरुपाद पद्म का ध्यान करना।

पंचपादुका का ध्यान करने में उनके ऊपर श्री गुरु चरण का ध्यान करने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं। यह गुरुपाद कमल नवजात पल्लव के समूह की तरह रक्तवर्ण है व अत्यंत कोमल है। उन चरण कमलों के नखसमूह निर्मल प्रकाशमान चन्द्रमा के समान हैं। वह परमामृत पूर्ण सरोवर में खिले हुए पद्म के समान निर्मल प्रकाशमय है। इसी से कहा गया है कि श्री गुरु के चरण कमलों से निरन्तर अमृत झरा करता है। और इस श्रेष्ठ सरोवर में स्थिति गुरु चरण पद्म के समान शोभायमान हैं।

इस पाद पद्म का बार–बार ध्यान करना चाहिये। ऊपर कमल

है नीचे कमल है। नित्य कर्णिका में त्रिकोण (त्रिकोण) के नीचे चन्द्रमा, ऊपर सूर्य और बीच में मणिपीठ है। मणिपीठ में गुरु पाद पद्म हैं।

(७) पंचवक्त्र महादेव के मुखारविंद से पादुका पंचक स्तोत्र निकला हैं। शिवोक्त सब स्तोत्रों को षड़ाम्नाय कहते हैं क्योंकि यह षड़मुख द्वारा कहे गये हैं। इन सब स्तोत्रों के द्वारा प्राप्त मंत्र निर्धारित कर्मफल होते हैं। किन्तु इस माया रचित संसार में यह अत्यंत कष्ट से प्राप्त होता है।जन्म जन्मान्तर के पुण्य के फल से इसकी प्राप्ति होती है।

पादुका पंचक स्तोत्रम–पद्म, अकआदि त्रिकोण; नादबिंदु मणिपीठ मंडलम्–नीचे हंस एवं पीठ के ऊपर त्रिकोण–यह सब मिलकर पांच हैं।

शिवजी के पांच मुख हैं। पश्चिम में सद्योजात, उत्तर में वामदेव, दक्षिण में अघोर, पूर्व में तत्पुरुष और मध्य में ईशान, इनका भक्ति पूर्वक ध्यान किया जाता है।

पूर्वोक्त षडमुख है छठा मुख पंच मुख के नीचे, यह गुप्त तामस मुख है।

चक्र भेदन

यह भेदन चिन्तन द्वारा होता है। सबसे पहले प्रथम चक्र मूलाधार में जो मेरूदंड के नीचे लिंग और गुदा के बीच में भीतर है अन्तर्दृष्टि करना चाहिये और एकाय नमः या एक का उच्चारण करना चाहिये। फिर दूसरे चक्र का स्वाधिष्ठान में जो लिंग के सामने भीतर मेरूदंड में है उसी तरह अंर्तदृष्टि रखकर 'द्वितीयाय नमः' अथवा दो कहे। इसी प्रकार नाभि के सामने मणिपुर चक्र में 'तृतीयाय नमः' हृदय के सामने अनाहत चक्र में 'चतुर्थाय नमः' कंठ के सामने विशुद्धि चक्र में पंचमाय नमः' भ्रूमध्य के भीतर आज्ञा चक्र में 'षष्ठाय नमः फिर यहां से नीचे को लौटे और फिर आज्ञा चक्र में ही 'सप्तमाय नमः' विशुद्धि में 'अष्टमाय नमः' अनाहत में 'नवमाय नमः' मणिपुर में दशमाय नमः' स्वाधिष्ठान में 'एकादशाय नमः' और मूलाधार में 'द्वादशाय नमः' कहना चाहिये। इस प्रकार जितनी बार इच्छा हो चिन्तन और इष्ट मंत्र के साथ संख्या का

उच्चारण करते हुए ऐसी धारणा करें कि चक्र भेदन हो गया, कुछ दिनों में मेरुदंड फूटेगा और चीटी के चलन के समान अनुभव होगा और वायु चक्रों को वेधकर ऊपर उठेगी और आनन्द का अनुभव होगा।

ग्रन्थि भेदन

ग्रन्थि भेदन विधि जानने के पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि ग्रंथियाँ क्या हैं और योग साधन में उनका क्या महत्व हैं।

ग्रन्थि तीन प्रकार की होती हैं-

(१) ब्रह्म ग्रंथि (२) विष्णु ग्रंथि (३) रुद्र ग्रंथि मूलाधार, विष्णु ग्रंथि मणिपुर और रूद्र ग्रंथि विशुद्धाख्य चक्र के पास हैं।

(१) ब्रह्म ग्रन्थि

उपनिषद में आगामी कार्यो का नाम ब्रह्मग्रंथि, चण्डी में मधु कैटभ और तंत्र में कुण्डलिनी है। विराट मन, प्राण और ज्ञान ही ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर है। उनको प्राप्त करने के लिये जीवभाव वाले मन, प्राण और ज्ञान की खोज करना आवश्यक है। जिस प्रकार पृथ्वी के भीतर छिपे हुए जल प्रवाह को प्राप्त करने के लिए कुआ खोदना पड़ता है, उसी प्रकार विराट समष्टि को पाने के लिये अपने भीतर सदा अनुभूति होने वाली व्यष्टि सत्ता का आश्रय लेना पड़ता है। पश्चात सद्गुरु के आश्रय और उपदेशानुसार पहले मनुजत्व से मनुत्व प्राप्त करना और फिर जगत की प्रत्येक वस्तु में सत्यप्रतिष्ठा कर सबको गुरु समझने की दृढ़ भावना करना चाहिये। 'शिष्यस्तेहं सन्धि मां त्वां प्रपन्नम्' यह मंत्र चैतन्य हो जाने से जीव मनुजत्व की संकीर्णता रूप सीमा से बाहर निकलने को व्याकुल हो जाता है। भगवान मनु मनुष्य जाति के पिता और ब्रह्मा पितामह हैं। मनु ही ब्रह्मा की पहली सृष्टि है। जब मनुष्य साधन बल से मनुत्व प्राप्त कर लेता है, तभी वह 'भर्गो देवस्य धीमहि' कहता हुआ अमृतमय अनंत ज्योति की लहर में निमग्न होकर तन्मय हो जाता है। जब आप 'तत्तेपूषन्नपाऽवृणु सत्यधर्माय दृष्टये' कहते हुए, सूर्य

में सत्य प्रतिष्ठा कर सत्यदर्शी ऋषियों की भांति महासत्य की आभास तरंग से संवेदित होंगे, जब आप योऽसावसौ पुरुष सोहमस्मि' कहते हुए वैदिक युग के ऋषियों की भांति सूर्य में सत्य और प्राणप्रतिष्ठित होकर जीवभाव बिलकुल भूल जायेंगे, तब मनुत्व के अधिकारी होंगे। ब्रह्म दर्शी ऋषि ऐसा सरल मार्ग बतला गये हैं कि उस पर धीरे-धीरे चलते हुए मनुष्य मात्र इसे प्राप्त कर सकता है।

प्रथम मनुजत्व से मनुत्व और फिर मनुत्व से ब्रह्मत्व, यह तीन अवस्थायें क्रमशः सद्गुरु कृपा से साधक के सम्मुख स्वयम् आती जाती हैं। उस समय जीव यह समझने लगता है कि मनुरूप पिता की गोद में निर्भय आनन्द पूर्वक सरल शिशु की तरह बैठा हुआ हैं। जब हर घड़ी यही अनुभव करता है तब मृत्यु लोक में रहकर भी वह अमरता के आस्वाद में मुग्ध रहता है और साधारण जनों के लिये जो जगत् सदा दुःखमय है उसी को वह आनन्द रूप से भोगता हुआ अनिर्वचनीय शान्ति को पाता है। मनुत्व प्राप्त होने से अणिमा महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ हो जाती हैं और घृणा लज्जा आदि अष्टबन्धनों से जीव मुक्त हो जाता है।

हमारे हृदय पटल पर जन्म जन्मान्तर के संचित भाव अंकित हैं, वह हमारे अनुभव में नहीं आते, परंतु जब हम मनुत्व प्राप्त कर मन्वन्तर के अधिपति होंगे तब अपने तथा दूसरों के पाप, पुण्य, जन्म जाति, आयु-भोग इत्यादि सब अनुभव करेंगे (कर सकेंगे) मनुत्व आंशिक फल प्राप्त कर लेने वाले साधक लोगों के विचार बिना कहे जान लेते हैं और बतला देते हैं। मनुष्यों की उत्पत्ति स्थिति, लय, 'मनु' के इशारे पर ही निर्भर है। वह प्रत्येक मनुष्य के सूक्ष्म और कारण देह तथा मन के भाव प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

मनुत्व का कुछ अंश प्राप्त कर लेने पर साधक सद्गुरु से दीक्षित होने पर अपनी इच्छा शक्ति द्वारा मन की गति उलट देते हैं। मन के दो मुख है, एक नीचे की ओर दूसरा ऊपर की ओर। नीचे का मुख प्रवृत्ति की ओर प्रवाहित रहता है व ऊपर का बंद रहता है। सद्गुरु के सत्संग

व उनकी कृपा से ऊर्ध्वमुख निवृत्ति मार्ग प्रवाहित होने लगता है और अधोमुख सूक्ष्म हो जाता हैं। बोधक्षेत्र में पहुंच हो जाने पर ब्रह्मग्रंथि शिथिल हो जाती है। साधक जब अंतः शरीर में प्रवेश करता है तब देखता है कि अन्नमय से आनन्दमय कोषंतक। पांचों कोण वर्म संस्कारों से परिछिन्न हैं। जब तक जीव आत्मस्नेह में मुग्ध नहीं होता तब तक वैद्य कर्मों के संस्कार उसे बहुत ही सताते हैं, इसी कारण वह नित्यानंद के विधायक प्रबल शत्रु हैं। स्थूल वृत्तियाँ आत्म राज्य में उतनी विध्न कारक नहीं है जितनी सूक्ष्म वृत्तियाँ (संस्कार) बाधक हैं। यहीं पर जीव को विषाद योग होता है, उसके पश्चात् फिर साधक को विषाद युक्त नहीं होना पड़ता।

पहले तो साधक संयम, योग, ध्यान, सिद्धि शक्ति आदि को चाहता है, परंतु–जब अनेक बार विफल मनोरथ होता है तब यथार्थ आत्मा (मां) की खोज उसके प्राणों में उदित होती हैं, तब वह एकांकी इन्द्रिय रूपी अश्व पर सवार होकर विषयारण्य में ही आत्मानुसन्धान करने लगता है, जब साधक अपना चित्त बाह्य विषयों से रोककर व्याकुल होता हैं तब स्नेहमयी (मां) आत्मा उसे सरल मार्ग पर ले जाता है। अस्तु जब तक आत्म दर्शन नहीं होता तब तक यथार्थ ग्रन्थि भेदन नहीं होता। आत्म जिज्ञासु जब अन्तर्राज्य में कोना–कोना ढूंढ़ने पर भी आत्मा का पता नहीं पाता तब विवश होकर फिर इन्द्रिय ग्राह्य विषयों के समीप आता है। पहले तो वह इन विषयों को नाशवान् और मिथ्या कहकर विषवत् त्याग कर अन्तर्राज्य में प्रविष्ट हुआ था, अब फिर लौटकर उसी विषयारण्य में प्रवेश करता हैं। परंतु अब इसमें भेद इतना हैं कि पहले विषय समझकर ही विषय भोगता था परंतु अब आत्मानुसंधान के निमित्त भोगता है। पहले पहले प्रत्येक विषय में 'सत्य' कल्पना करते–करते ही आत्मानुसंधान जाग्रत होने लगता है। क्योंकि साधक पहले विचारता हैं कि विषय तो यथार्थ आत्मा नहीं हैं, विषय क्षुद्र है। आत्मा अनन्त है, विषय भावों की घनीभूत अवस्था है, आत्मा भावातीत है, विषय अज्ञान मात्र है, आत्मा ज्ञानमय है। अतएव विषयों में विचर कर क्या विरुद्ध

आत्मा का पता लगाना सम्भव है? परंतु जब अन्तर्राज्य में पता नहीं चला तब बहिःराज्य में पता लगाने में हानि ही क्या है। बस यही से आत्म प्राप्ति का श्री गणेश होने लगता है।

साधक को चाहिये कि जो भी पदार्थ उसके सामने आवे उसी को 'सत्य' 'आत्मा' मानकर ग्रहण करे। आंखें कोई भी रूप सामने उपस्थित कर दें उसे ही आत्मा का रूप समझे, कान से जो कुछ भी शब्द सुने, उसे आत्मा के कंठ के शब्द माने, गंध को आत्मा के अंग का सौरभ समझे, रसना से जो रस अनुभव करे उनको 'रसो वै सः–' कहकर अमृतायमान होवे। कोमल स्पर्श से रोमांचित हो तो आत्मा का ही का स्पर्श समझे अर्थात इस प्रकार आठों पहर जो कुछ भी करे उसे यही समझे कि 'यत करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्' अर्थात् जो कुछ भी मैं करूँ हे जगद्‌माता। (आत्मा) वह सब तेरा ही पूजन हैं। परंतु इसके केवल मुंह से कहने से कोई फल न होगा बल्कि इसे रोम–रोम से अनुभव कीजिये। हे साधक! आप अनेक जन्मजन्मान्तर से 'जगद्भाव' का अभ्यास करते हुए उसी में मोहित रहे हैं। आप जो कुछ भी करें, जो कुछ भी देखें वह समझें सब छद्‌मवेशधारिणी आत्मा की ही मूर्ति समझें। यही आप की बुद्धि में दिन–रात विकसित होता रहे। यही बुद्धि योग है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' है। यही मोक्ष मार्ग पर ले जाने वाला पथ है। समस्त वेद, दर्शन व शास्त्र बस यही एक बात कहते हैं 'ईशावास्य मिदं' सर्वम्' सर्व खल्विदं ब्रह्म' भगवान सर्व व्यापी है, इस बात को तो प्रायः सभी मनुष्य भी जानते हैं, परंतु इसे व्यवहार में लाने वाले तत्वतः जानने वाले विरले ही हैं।

उक्त साधन में न तो आपको कोई नई बात पढ़ना, जानना और न सीखना ही है बल्कि आपने जो कुछ भी पढ़ा जाना और सीखा है उसे ही कार्यरूप में परिणित करना मात्र है। यही बुद्धि योग मन की चंचलता दूर करने का अमोघ अस्त्र है। जब आपका मन कहे कि सामने यह वृक्ष है तब आप भी जोर देकर कहें कि नहीं, यहं वृक्ष रूप में 'मां' आत्मा है। पहले पहले यह बातें कुछ अद्‌भुत सी मालूम होती हैं। हमारा अविश्वासी मन इन बातों को स्वीकार नहीं करना चाहता कि इस दृश्य रूप जगत्

के रूप में सर्वत्र भगवान ही विराजमान हैं। परन्तु मन की चंचलता, इन्द्रियों की धूर्तता से आप धोखे में न आइये। जब बुद्धि बल से सर्वत्र इस सत्य का अनुभव करेंगे तब आप इसके मधुमय परिणाम को प्राप्त कर सकेंगे भगवद्गीता में कहा है कि –

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। (६/२६)
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। (६/३०)
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।। (६/३१)

हे अर्जुन! सर्व व्यापी अनन्त चेतन की एकी भाव से स्थित रूप योग से मुक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को संपूर्ण भूतों में बर्फ से जल के सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है, अर्थात जैसे स्वप्न से जगा हुआ पुरुष स्वप्न के संसार को अपने अंतर्गत संकल्प के आधार देखता है वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतों को अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतना आत्मा के अंतर्गत संकल्प के आधार देखता है। (६/२६)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अंतर्गत देखता है उसके लिये में अदृश्य नहीं होता हूं और न वह मेरे लिये अदृश्य होता हें, क्योंकि वह मुझ में एकीभाव से स्थित है। (६/३०)

इस प्रकार जो पुरुष एकीभाव से स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानंद घन वासुदेव को भजता है, वह योगी इस प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ में ही वर्तता है क्योंकि उसके अनुभव में मेरे सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। (६/३१)

तात्पर्य यह है कि साधक को भगवान की जो मूर्ति प्रिय हो, सबको इसी रूप में देखें और उसके साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करें मानो

वास्तव में इष्टदेव ही मिल गये हैं। ऐसा करते--करते वह यथार्थ पद पर पहुंच जाएगा। पलक बंद कर खोलने में तो देर भी लगती है परंतु भगवान के पाने में कुछ भी विलंब नहीं लगता। आवश्यकता तो केवल सच्ची लगन की है। यदि सबसे निकट कोई वस्तु है तो वह आत्मा है। (भगवान) है, परन्तु इस बात में विश्वास दुर्लभ हैं। जो कुछ आयोजन प्रयोजन साधन और कठनाई है वह केवल इसी विश्वास को दृढ़ करने की ही है।

बुद्धि योग का रहस्य न जानने के कारण ही लोग श्वास रोककर प्राणायाम द्वारा चित्त स्थिर करने की चेष्टा करते हैं, परंतु आत्मा को नहीं पाते। जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य ने अपने ग्रंथ अपरोक्षानुभूति के सर्ग ११२–१२० में प्राणायाम की निम्नलिखित व्याख्या की है।

सर्वत्र ईश्वर होने की धारणा का अभ्यास करके सम्पूर्ण जीवन शक्तियों पर अधिकार प्राप्त करने को प्राणायाम कहते हैं। 'अहं–ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूं की धारणा का अभ्यास पूरक व संसार को मिथ्या मानना ही रेचक प्राणायाम है। अहं ब्रह्मास्मि की स्थायी धारणा ही कुम्भक प्राणायाम है। ज्ञानियों की यही प्राणायाम विधि है।

नाक दवा कर किया जाने वाला प्राणायाम तो अज्ञानियों के लिये है। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि 'मनो ब्रह्मइत्युपासीत' अर्थात मन की ब्रह्म रूप से उपासना करना ही सत्य प्रतिष्ठा है, क्योंकि जगत् मन का भाव है। जगत की उपासना ही मन की उपासना हैं। बुद्धिर्महतत्व में चैतन्य का सबसे प्रथम प्रकाश होता है। मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे आत्मा है। इस कारण अपने निकटतम सूक्ष्म अंश बुद्धि द्वारा ही शीघ्र मिल सकता है। इन्द्रियां मन से रुकती हैं, मन बुद्धि से रुकता है अतएव पहले बुद्धि स्थिर होनी चाहिए बुद्धि योग का गुण बड़ा विचित्र है। इसका जरा सा भी अनुष्ठान महान् भय से त्राण कर देता है। बुद्धि योग की सहायता से एक अपूर्व चिदाकाश प्रकाशित होता है। उसके दर्शन मात्र से प्राण अमृत रस में निमग्न हो जाते हैं। चंचल मन स्थिर होकर उस निर्मल सत्य ज्योति में मुग्ध हो जाता है और हृदय का सारा

संताप मिट जाता है। पहले यह चिदाकाश कुछ मलिन, अस्थिर और अल्पक्षण दिखाई देता है, फिर सत्य प्रतिष्ठा में अभ्यास बढ़ने पर क्रमशः निर्मल, श्वेत, देर तक ठहरने व इच्छा मात्र में दिखाई देने लगता है। इसी का नाम अरण्य में राजा सुरथ को मेधस् मुनि का प्रशान्त श्वापदाकीर्ण मुनि शिष्योपशोभित आश्रम दर्शन होता है। मेधस् अर्थात मेधा, स्मृत शक्ति पाना। इसमें मोह नष्ट हो जाता हैं। यही ब्रह्मज्ञान का प्रवेश द्वार है। सुषुम्ना प्रवाह प्रकाशित होने पर इस स्थान पर सहज ही में पहुंच सकते हैं। साथ ही कुल कुंडलिनी जागरण होने पर जीव की ब्रह्मग्रंथि शिथिल हो जाती है अर्थात उसका भेदन हो जाता है।

साधक के बुद्धिमय क्षेत्र में पहुंचने पर विरुद्ध भाव स्थिर हो जाते हैं, उनमें चंचलता नहीं रहती, काम क्रोधादि सताना भूल जाते हैं। साधना जगत् जब तक अनुमान और अप्रत्यक्ष रहे, तब तक समझना चाहिये कि अभी यथार्थ साधन पथ पर एक कदम भी आगे नहीं चले हैं। साधन में जब पग–पग पर कुछ न कुछ प्रत्यक्ष होता रहेगा, तभी साधन सरस और मधुर होगी। मंत्र चैतन्य इसमें परम सहायक होता है। जीव मात्र साधक है, कर्ममात्र साधन है प्रकृति गुरु है, पुरुष इष्टदेव लक्ष्य हैं। साधना सजीव होने से अवश्य सिद्ध होगी, साधन में जाति भेद या साम्प्रदायिक भेद नहीं हैं,साधक (अधिकारी) (पात्र) होना आवश्यक है।

उस बुद्धिमय ज्योति में साधक आरम्भ में अधिक देर तक नहीं ठहर सकता, वह शीघ्र ही देह बुद्धि में उतर आता है, क्योंकि नीचे की ओर मन बंधा रहा है इस मन को भगवान के चरणों में अर्पण कर देने पर ही जीवत्व का अंत हो जाता है और वह प्रकाश ठहरने लगता है तथा समाधि से भेंट होती हैं। जो भक्तिधन से धनवान्, गुरुकृपा से ज्ञानवान्, सत्यप्रतिष्ठा की शक्ति से वीर्यवान् और चिन्मय ज्योति से प्रकाशमान् है उसी को समाधि का साक्षात्कार होता है। आत्मा ब्रह्म के दर्शन का उपाय है उसके दर्शन की इच्छा का होना। ब्रह्म सर्वत्र प्रकाशित रहने पर भी जीव की दर्शन करने की इच्छा हुए बिना, दृष्टि गोचर नहीं होता, जैसे आखें सबको देख सकती हैं परंतु स्वयं को नहीं

देख (सकती) पड़ती हैं। जीव की ब्रह्म दर्शन की इच्छा होने पर प्रथम वह सद्गुरु रूप से दर्शन देता है। सद्गुरु प्राप्त होने पर जब साधक अपना देह, मन प्राण सर्वस्व श्री गुरु चरणों में अर्पण करने को उद्यत होता है तब क्रम से गुरु ही उसका 'मैं' हो जाता है। उनका जीव भावीय कर्तृत्व बोध शिथिल हो जाता है। कोई भी कर्म क्यों न हो उसमें यह धारणा नहीं रहती कि 'मैं' करता हूं। वह अपने को दृष्टा मात्र समझने लगता है। शरीर मंत्र है आत्मा मंत्री है। इसी ज्ञान से उसके लौकिक कार्य होते रहते हैं। उनमें अनुराग या विद्वेष नहीं रहता। इसी कारण वे भविष्यत् कर्म के बीज रूप (बंधन) से परिणत नहीं होते। सांसारिक कर्मों में जितनी आसक्ति कम होती जाती है उतनी ही हृदय पर गुरु पर साधक की आसक्ति बढ़ती जाती है और फिर क्रम से उसमें आत्म समर्पण कर साधन निश्चित हो जाता है और समझ सकता है कि 'गुरु' व आत्मा एवं मां' एक ही के नाम हैं। वही अंतर में रहकर सब अनुष्ठान पूर्ण करा लेते हैं, साधक को कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता।

ब्रह्म ग्रन्थि भेद सत्यप्रतिष्ठा है, विष्णु ग्रन्थि भेद प्राणप्रतिष्ठा है और रुद्रग्रंथि भेद आनन्द प्रतिष्ठा है। जब सत्य और प्राण प्रतिष्ठा हो जाती है, तब आनन्द प्रतिष्ठा अपने आप हो जाती है, केवल आत्मा मां के होने का विश्वास घनीभूत होने से ही होता है जीव भावीय कर्तृत्व शिथिल हो जाता है और आगामी कर्मों का फल ध्वंस हो जाता है, इसी को ब्रह्म ग्रंन्थि भेद या मधु कैटभ वध कहते हैं। यह हो जाने पर जीवत्व की एक जड़ कट जाती है।

(२) विष्णु-ग्रन्थि

महिषासुर वध या प्राण प्रतिष्ठा

ब्रह्म ग्रन्थि भेद होने से मधु कैटभ वध व आगामी कर्मों का बीज नष्ट हो जाता है। साधक अब नित्य नई-नई आशा आकांक्षा लेकर कर्म में प्रवृत्त न हों। कर्म क्षेत्र (शरीर) में रहने से बाध्य होकर कर्म तो किये ही जावेंगे, परंतु अब आसक्त होकर कर्म करने पड़ेंगे। उनकी सफलता

और निष्फलता में हर्ष शोक न हो। विज्ञानमय गुरु मेधस् की कृपा से ज्ञान नेत्र जैसे जैसे खुलते जाते हैं वैसे ही क्रम से अज्ञानान्धकार दूर होता जाता है। साधक पहले 'स्त्री–पुत्रादि' गृहस्थ बंधन को ही परमात्मा प्राप्ति में बंधन समझते थे और उनका साथ छोड़ना चाहते थे। परंतु अब गुरु ने अनुभव करा दिया कि यह ही बंधन नहीं हैं, बल्कि तुम्हारे सूक्ष्म शरीर में अन्तःकरण के संस्कार ही यथार्थ बंधन हैं जो अनेक जन्मों के साथ चले आ रहे हैं। संसार आप के ही अन्दर है। आप किसी भी एकान्त स्थान या पर्वत कन्दरा में क्यों न चले जावें, परन्तु संस्कार आप के साथ ही जावेंगे (रहेंगे) अब साधक भली–भांति यह अनुभव कर संसार का मूलोत्पादन करना चाहता है तब सत्य प्रतिष्ठा के फल और सद्गुरु कृपा से सोती हुई प्राण शक्ति जाग्रत होकर आगामी कर्मों के बीज रूप मधु कैटभ का प्रथम निधन करती है।

साधन क्षेत्र में प्राण का नाम है विष्णु'। विष्णु का और एक विशेषण है (प्रभु) अर्थात स्वाधीन, जो स्वतंत्र रूप में इच्छा शक्ति चला सके। जब जगत् नहीं रहता तब जगत् व्यापी प्राण 'शेषमास्तीर्य' अर्थात् भविष्य जगत् के बीजों को शय्यारुप कल्पित कर 'अधःकृत' अपने में लीन कर योग निद्रा लेते हैं। 'योग' का अर्थ है परमात्म मिलन भाव, उस समय जगद्भाव सुप्त रहने के कारण व्यवहार में वह निद्रातुल्य है। योग सिद्ध होने पर जगद्भाव मेंसुप्त भाव होगा ही, इस दशा में विष्णु की फिर स्वतंत्रता नहीं रहती, योग निद्रा स्वरूपिणी मातृ सत्ता विद्यमान रहती है। विष्णु का अर्थ व्यापक चिदाकाश (विष्णु व्यापक,) आकाश शब्द गुणात्मक है, शब्द कान से ही सुनाई देता है। मल का अर्थ है आवरक–आवरण करने वाला, जो निर्मल शुभ्र चिदाकाश को आवरण करे वह मधु–कैटभ है। मधु का अर्थ है आनन्द, कैटभ का अर्थ है बहुत्व।

संचित कर्म बीज छोटे–छोटे कीड़ों के समूह की तरह एक साथ अनेक भावों को दर्शाते हैं, अतएव अनेकता का बीज ही कैटभ है। जब मधु कैटभ मारे गये तब मानो संसार महा महीरुह की एक जड़ कट गई, परंतु अभी दो जड़ें बड़ी दृढ़ता से जमी हुई हैं। वह सहज में नहीं उखड़ती। संचित कर्म जो तुमने बहुत्व चाहा था वह तो जमा है, चित्त

क्षेत्र में उनका कोष भरा हुआ है, उनका नाश हुए बिना–महिषासुर वध हुए बिना भूयः सुख की प्राप्ति की आशा नहीं। परंतु चिंता नहीं, मैं तुम्हारी 'मां, हूं, मैंने गुरु रूप से प्रकाश किया है, मैं स्वयं खड्गपाणि होकर समराङ्गण में अवतीर्ण हो तुम्हारे सब संचित संस्कार विलय कर दूंगी। जब तुमने आर्त होकर मुझे 'मां' कहकर पुकारा हैं, तब निर्भय रहो, मैं तुम्हारे सब बंधन काट दूँगी। तुम मेरी स्नेहमयी गोद में अवस्थान करो।

जीव अनेक जनम में अनेक प्रकार के कर्मो के अनुष्ठान, योग, तपस्या या भक्ति ज्ञान के अनुशीलन से परमात्म विषयक संचित करता है, वे ही देवता हैं। अर्थात् मन, बुद्धि इन्द्रियों की जो परमात्मा मुखी गति या मिलन प्रयास है उसी का नाम देव शक्ति है और विषयाभिमुखी लालसा ही असुर हैं। यह देवासुर–संग्राम जीव देह में सदा ही चला करता है। अस्तु जो गुण महिषासुर है 'क्रोधञ्च महिषं दद्यात्' अर्थात् क्रोध रूप महिष का, देवी के प्रति, बलि देना कहा हैं, परंतु क्रोध रजो गुण से उत्पन्न है। कामना और वासनाएं रजो गुण के ही स्थूल विकास मात्र हैं महिषासुर इनका अधिपति है।

एक तरफ भोग की लालसा–वासना, दूसरी ओर मोक्ष का आकर्षण। यह संग्राम परमाणु मात्र में हर समय चला करता है। परंतु जीव जब मनुष्य शरीर में पहुंचता है तब आत्मबोध होने पर विज्ञानमय कोष में साधकों के अनुभव में आता है, तभी उसका मनुष्य जीवन सफल होता है। तुम्हारे संचित संस्कार आसुरी शक्ति बल से तुम्हें पराजित करते हैं। (अपवर्ग में पहुंचने की तुम्हारी राह को रोकते हैं)। हमारा जीवन कहने योग्य यथार्थ जीवन नहीं है। क्योंकि वास्तविक जीवन वह है जो गतिशील व शक्तिशाली हो, जिसमें हम उन्नति करें, देवासुर संग्राम अनुभव करते हुए जिसकी समाप्ति हो। जिसने मनुष्य–जीवन व्यापी देवासुर संग्राम का अंतर में अनुभव नहीं किया उसका जीवन व्यर्थ गया।

देव शक्ति और असुर शक्ति दोनों ही मन के भाव हैं। नाभि या मणिपुर चक्र के नीचे असुरों का क्षेत्र है, और उसके ऊपर देव क्षेत्र है। नाभि कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति है, मन का जो अंश परमात्माभिमुखी

हुआ है वह पद्म योनि है, देवता (इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य) और विष्णु शरणापन्न हुए। विष्णु प्राण शक्ति है। उनका स्थान हृदय कमल शिव ज्ञान शक्ति है। उनका स्थान ललाट या आज्ञा चक्र है। सद्‌गुरु हृदय कमल से साधन कराकर धीरे–धीरे ललाट कमल तक पहुंचाते हैं। जीव का निवास साधन से पूर्व मूलाधार या पृथ्वी चक्र में होता है, उसके ऊपर स्वाधिष्ठान (जल चक्र) फिर मणिपुर (अग्निचक्र) इन तीनों के ऊपर हृदय कमल तक बड़ी ऊँची सीढ़ियां हैं, समर्थ गुरु साधक शिष्य को गोद में ले अपने हाथ से चौथी सीढ़ी पर पहुंचा देते हैं। इससे ऊपर की सीढ़ियां कम ऊंची और चौड़ी हैं इसलिए ऊपर से फिसलने का डर नहीं फिर भी सद्‌गुरु उसे देखते व साधे रहते हैं।

ब्रह्मा ने यह समझ लिया कि प्राण और ज्ञान की सत्ता बिना मेरी सत्ता है ही नही, यही शरणागति है। जीव जब तक अहंता को जोर से पकड़े रहता है तब तक उसका अभिमान से उठा हुआ सर किसी प्रकार झुकना नही चाहता और न तब तक शरणागत भाव आता है। शरणागत हुए या आत्म निवेदन हुए बिना साधन का आरम्भ और आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव हे जीव! अब तुम इधर भटकना छोड़कर अपने अंतःस्थित ज्ञानमय गुरु चरण की शरण लो। वे साक्षात हरि हैं। उनके शरणागत होते हुए कहो, प्राणमय गुरु इन असुरों की पीड़ा से बचाइये, यह मुझे आप के समीप नहीं आने देते। दया करो, इन संचित कर्मो के विपरीत आकर्षण से मेरी रक्षा कीजिये आप ही मेरे सब कुछ हैं मेरी जड़ता दूर कीजिये।

अपने प्राण को ब्रह्म–आत्मा 'मां समझकर आदर करो, प्रत्येक पदार्थ को प्राणरूप अनुभव करो, तब तुम्हारे सब अभावों का रोना सदा के लिए बंद हो जायेगा 'मां' राज राजेश्वरी मूर्ति से हृदय में प्रकाशित होंगी। अपने अभीष्ट देवता के दर्शन पाकर तुम धन्य हो सकोगे। तुम्हारी विष्णु ग्रन्थि खुल जायेगी। इस प्राण को 'मां' समझ लेने से प्राण का पता नहीं लगता। जब तक तुम अपने प्राण को विश्व प्राण रूप न समझोगे तब तक विष्णु ग्रंथि का भेदन न होगा। तुम्हारे जीव भावीय संस्कार प्राण

में अवस्थित है, उन्हें तुमने संकीर्ण बना रखा है। इसीलिये तुम्हारी विष्णु ग्रंथि नहीं खुलती। विक्षेप आवरणादि असुर वृत्तियां प्राण प्रतिष्ठा होने पर प्राणमयी हो गई, भेद ज्ञान दूर हो गया, संचित संस्कार दग्ध बीजवत् हो गये, प्राणमय ग्रंथि खुल गई, अब संचित संस्कारों का फल (बिना भोगे ही) या भोगे बिना ही जीव मां की गोद में आरोहण कर सकेंगे, विष्णु ग्रंथि का यही विशेष फल है। अब समझ में आया कि 'मां–गुरु' के प्राण ही हमारे प्राणरूप से प्रकाशित हैं। विषय मात्र ही मानों प्राण मूर्ति हैं, अब यह देख पाया है। अब विषयों पर जो ममता, अनुराग या विद्वेष था वह भी दूर हो गया। तुम प्राण या चैतन्य पर प्रतिष्ठित हुए हो। अब संसार वृक्ष की दूसरी जड़ भी कट गई। रजोगुण रूप महिषासुर का वध हुआ, संचित कर्म दग्ध हो गये। परंतु अभी सबसे अधिक मजबूत प्रारब्ध भोग रूप मोटी जड़ शेष रह गई हैं, यह रुद्र ग्रंथि भेद होने पर 'मां' समर्थ गुरु की कृपा से एक ही शरीर से अनेक जन्मों का फल भोग (कराकर) स्वयं काट देगी।

(३) 'रुद्र ग्रन्थि'

शुम्भवध-आनन्द प्रतिष्ठा

साधक अब रुद्र ग्रन्थि के पास पहुंच जाता है। यद्यपि कहा है 'प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षयः' अर्थात् प्रारब्ध कर्मों का भोगने से ही क्षय होता है। तथापि भगवान श्री कृष्ण जी का उपदेश है कि 'ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' अर्थात ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। प्रारब्ध जीवरूप का अंतिम बंधन है। मां की कृपा से यह करते ही अज्ञानान्धकार बिल्कुल दूर हो जायेगा, जीव का जो यथार्थ रूप है वह प्रकट होने लगेगा। स्थूल और सूक्ष्म शरीर पर जो अभिमान था वह दूर हो गया। अब इस संग्राम के लिये कुछ अस्त्र आवश्यक हैं उनका दृढ़ता पूर्वक उपयोग करना होगा।

(१) 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नही। इस पर दृढ़ विश्वास पहला अस्त्र है।

(२) बुद्धि तत्व में अवस्थान कर स्वयं प्रकाशित चित्तशक्ति की ओर बार–बार लक्ष्य स्वयं करने का अभ्यास ही दूसरा अस्त्र है।

(३) युक्ति की सहायता से दृश्य पदार्थों में व्यावहारिक सत्ता दृढ़ करना, पारमार्थिक सत्ता नहीं, यह तीसरा अस्त्र है।

(४) शास्त्रीय प्रमाणों की सहायता से 'तत्वमसि' अर्थात ब्रह्म ही तत्व है। 'एकमेवा द्वितीयम्' अर्थात् एक है दूसरा कोई नहीं हैं। 'नेह नान्यस्ति किंचन' अर्थात अन्य कुछ नहीं है इत्यादि की सहायता से अद्वयस्वरूप परिग्रह करने का प्रयास करना चौथा अस्त्र है।

(५) मां की विशिष्ट कृपा पाने के लिए कातर स्वर में विनय आदि से अंत तक कृपा रखने की प्रार्थना करना। कृपा ही शरणागत भाव का अवश्यम्भावी फल है। आत्मप्राप्ति के पक्ष में आत्मकृपा ही प्रधान अवलम्बन हैं, कृपा प्राप्त होने से सब अनायास ही प्राप्त हो जाता है। यह व्यतिक्रम के फल देते हैं। सबसे पहले मां की कृपा का अनुभव होता है, फिर विश्वास दृढ़ होता है। फिर शास्त्र वाक्य का अर्थ प्रतीत होता है। पश्चात् युक्ति विचार की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। अंत में अनुभूति को लक्ष्य का अभिन्न स्वरूप में प्रतिष्ठित होने की योग्यता होती है।

यह योग्यता होते ही तीसरी लहर कारण शरीर का अभिमान भी दूर हो जायेगा और तुम आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाओगे व रूद्र ग्रन्थि भेदन हो जायेगा। अतः एक स्वर से मां को प्रणाम कर आगे बढ़ो और जिसने इस दुर्जय असुर की पीड़ा से परित्राण कर आनन्दमय मंदिर में पहुंचाया है, उसके चरणों पर नत मस्तक हो। जिसका प्रणाम जितना सत्य, सरलतम और निष्कपट होगा वह उतना ही शीध्र और सहज में अपना अभीष्ट प्राप्त कर शांत चित्त होता है।

निर्गुण निरंजन स्वरूप के ऊपर आत्मा (मां) का दो प्रकार का महत्त्व प्रकाशित होता है। एक ईश्वरत्व दूसरा जीवत्व। आनन्द से ही इन भूतों की उत्पत्ति–आनंद ही में उनका अवस्थान और आनन्द ही में प्रलय स्थान है। निर्गुण का अर्थ है। अभिन्न गुण ब्रह्म की यह विशेषता है कि इसे जो जैसा कहे वह ठीक वैसा है। क्योंकि प्रकाश–अंधकार,

ज्ञान–अज्ञान, विद्या–अविद्या, सगुण–निर्गुण, सुख, दुःख इत्यादि परस्पर अत्यंत विरुद्ध धर्म भी तो एक साथ ब्रह्म में ही वर्तमान हैं, तो भी उसके निरञ्जन स्वरूप में कुछ व्याघात नहीं होता।. केवल आनन्द स्वरूप ब्रह्म अपना निरञ्जन स्वरूप सर्वथा अखंड रखते हुए भी एक साथ ईश्वर और जीव रूप से प्रकट हो सकता है। यही ब्रह्म का ब्रह्मतत्व है। यह सत्, चित् और आनन्द है, यही प्रथम स्पन्दन में सत् या सत्वगुण, द्वितीय स्पन्दन में चित् या रजोगुण–आनन्द है, वही प्रथम स्पन्दन में सत् या सत्वगुण, द्वितीय स्पन्दन में चित् या रजोगुण–आनन्द है, वही प्रथम स्पन्द में सत् या सत्वगुण, द्वितीय स्पन्दन में चित् या रजोगुण–आनन्द की अनुभव शक्ति और तृतीय स्पन्दन में आनन्द या तमोगुण अनुभाव्य भोग्य भाव प्रकाशित होता है। उसका नाम 'आत्मा' 'मां' कुछ भी रखिये यह ज्ञान स्वरूप परमात्मा परम प्रेमास्पद है, जिसकी प्रीति साधन के लिये जीवत्व का बंधन अनादि काल से लादे आ रहे हैं, जिसकी रक्षा के लिए ('आत्मार्थे पृथ्वी त्यजते') (सब पृथ्वी त्यागना कहा है)। पृथ्वी मूलाधार कमल है, इसको त्यागकर उन्नत हुए बिना आत्मराज्य में पहुंच नहीं हो सकती वह आत्मा कितना घन आनन्द स्वरूप है, क्या मुख से उसका वर्णन किया जा सकता है?

सारांश यह है कि हजार बार सगुण होने पर भी उसकी निर्गुणता में कुछ विकार नहीं होता, जैसे नाना प्रकार के आभूषण बना लेने पर भी सुवर्ण का सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता ब्रह्म में गुणातीत व गुणमय दोनों भाव एक साथ ही विद्यमान हैं। जब आनन्दमय आत्मा अपने आप को बहुधा विभाजित कर भोगता है या भोग करता है तब वह ईश्वर है और जब वह उस समष्टि ईश्वरानन्द को व्यष्टि रूप से भोगता है। तब वही जीव है। जैसे समुद्र का जल, जल की लहरें और जल की बूदें इनमें कुछ भेद नहीं, इसी प्रकार कैवलानन्दमयी, सर्वकारिणी ईश्वरानन्दमयी, और फिर सर्वरूपिणी जीवनानन्दमयी 'मां' है। साधक अब विचार कीजिए आप कहां पहुंच गये। अब आपकी देह का प्रत्येक परमाणु आनन्द के सिवा और कुछ भी नहीं है। आनन्द ही आपका निर्मित, आनन्द ही उपादान व आनन्द ही स्वरूप है। आपके चारों ओर आनन्द

ही आनन्द है। जड़ पत्थर तक सभी आपके पारिवारिक जन आदि, घन सत्ता हैं। फिर भी आप नेत्रहीन की तरह खोजते हो आनन्द कहां हैं? एक बार 'मां' की झांकी की ओर देखो तो सही, आपको कहीं भी आनन्द का अभाव न रहेगा, आप आनन्द समुद्र में मग्न हो जायेंगे। यह संसार आनन्दमय भासने लगेगा और आपकी जगद्भोग की वासनायें बिल्कुल नष्ट हो जायेंगी।

इस प्रकार माया, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, क्षान्ति, जाति लज्जा, शान्ति, श्रद्धा कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया तुष्टि, मातृ और भ्रान्ति आदि सब आत्मा–मां के ही तो रूप हैं, सबका प्रमाण जब इतना दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब साधक नृप नंदन कहलाने का अधिकारी हो जाता है, इस अवस्था में साधक का चित्त आर्द्र होकर प्रेमाश्रु निकलने लगते हैं यही गंगाजल है, इससे स्नान करने 'मां' आती हैं। संतान के परम पवित्र प्रेमाश्रु बिना 'उमा का स्थान–अभिषेक नहीं होता। मातृ वक्ष को शीतल–शान्त करने के लिये संतान के आकुल आर्तनाद विक्षोभित निष्कपट प्रेमाश्रुओं की ही आवश्यकता है। उक्त दशा में 'मां' पूछेगी कि अरे! क्या बात है। बस यहीं अस्मिता रूप शुम्भ दैत्य का निधन होगा। एक बार अद्वय तत्व का साक्षात्कार हो जाने पर साधक की भेद भ्रान्ति बंधन, भय, मृत्युभय दूर होकर वह अभय हो जाता है। इसके बाद अब स्थूल देह रहती है, तब तक साधक, प्रारब्ध संस्कार क्षय करता हुआ अंत में कैवल्य मोक्ष प्राप्त करता है। प्रबल प्रारब्ध रहने तक शुम्भ वध या रुद्र ग्रंथि भेद (यथार्थ अद्वैत तत्व प्रकाश) नहीं होता। यहां तक तो साधक का ममता क्षय (निशुम्भ वध) हुआ। जब तक साधक यथार्थ अहं के दर्शन नहीं कर सकता, तब तक उसका मिथ्या अहं दूर नहीं होता, मां के दर्शन होते ही ब्रह्मशक्ति पुरुष निरहंकार हो जाते हैं। सच्चे संत का लक्षण निरहंकार होना ही है।

प्रबल प्रारब्ध संस्कार क्षीण होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है। इसी को साधन की भाषा में रुद्र ग्रन्थि भेद कहे हैं। इस जगत में देह आदि की प्रतीति ही रुद्रग्रन्थि है। जगत की सत्ता त्रिकाल में नहीं है, एक अद्वितीय आत्मा नित्य विराजमान हैं, आत्मा नित्य शुद्ध निरञ्जन

है। उसमें जो अत्यंत अनुराग है वही अहैतु की भक्ति है। अस्मिता नष्ट होने पर सर्वत्र प्रसन्नता दिखाई पड़ती है। आत्म प्राप्ति के पश्चात् साधक के शब्द मधुर उच्चारित होते है कंठ में आकर्षण भाव आ जाता है। रोग शोक में भी यह स्वरूपानंद विच्युत नहीं होता। यह आनन्द ही सांख्य का पुरुष, वेदान्त का ब्रह्म, उपनिषद की आत्मा, गीता के कृष्ण, देवी माहात्म्य की चण्डिका और साधक की 'मां–उमा है।

'मां' की आराधना करने से पहले वह ब्रह्मग्रन्थि भेद करेगी उससे विषयासक्ति दूर होगी, तब पार्थिव भोग अपने आप आकर उपस्थित होंगे। यही मां की प्रथम देन है, दूसरी मूर्ति से विष्णु ग्रन्थि भेद करेगी, उसके फल से विश्वमय प्रियतम प्राणसत्ता के दर्शन कर तुम स्वर्ग सुख भोग के अधिकारी होगे और तीसरी मूर्ति से वह रुद्रग्रन्थि भेदकर तुम्हें विशुद्धबोध स्वरूप (आत्मध्यान) में उपनीत करेगी, तब तुम मोक्ष प्राप्त करोगे।

तीनों स्थानों (मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय) क्षेत्र में उपासना करने से प्रसन्न होकर जगद्धात्री मां के चंडिका रूप से आविर्भूत होने पर साधक का तीनों ग्रन्थि भेद हो जाता है। सुरथ और समाधि की उपासना प्रणाली क्रमशः साधन रीति अथवा योग कर्म का कौशल है। इस प्रकार साधकों की सब बाधायें दूर कर या उनको अपने में लीन कर लेती है। तब सारा जगत ब्रह्ममय दिखने लगता है। (इति रुद्रग्रन्थि)

योग शास्त्र के अनेक विषयों में कुण्डलिनी शक्ति एक बहुत ही गूढ़तम विषय है। योग शास्त्र के प्रथम सोपान से अंतिम सोपान तक चढ़ जाने के पश्चात् ही इस शक्ति का अनुभूत ज्ञान प्राप्त होता है। समष्टि सृष्टि की 'कुण्डलिनी को महाकुण्डलिनी कहते हैं और उसी के व्यष्टि–व्यक्ति में व्यक्त होने पर उसे कुण्डलिनी कहते हैं। समस्त जगत को जो चलाती है वह अव्यक्त कुण्डलिनी है और व्यष्टि रूप जीव चलाने वाली व्यष्टि कुण्डलिनी है। जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में हैं, यह बात प्रसिद्ध ही है।

यह नाग के समान सोई हुई देवी अपने ही प्रकाश से दीप्त है।

यह सूर्य के समान सन्धि में रहती है, तथा वाग्देवी के बीज के नाम से विख्यात है। जिस प्रकार सूर्य से सारा संसार संचालित होता है। इसके जाग्रत होने से ही साधक के सारे शरीर में तेज चमकने लगता है व शक्तिमान हो उठता है। इसको जाग्रत करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। इसे विष्णु की शक्ति जानना चाहिये। यह स्वर्ण के समान आभावाली है तथा, सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों का आदि स्थान है। सारांश यह कि वह सर्व शक्तियों की मूल शक्ति है अतएव इसका जगाना साधक का मुख्य कर्तव्य हैं क्योंकि इसके जगने से बड़ी–बड़ी शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

गुदा के दो अंगुल ऊपर और जननेन्द्रिय से दो अंगुल नीचे मूलाधार चक्र है। यहीं पर श्रेष्ठतम देवी कुण्डलिनी अवस्थित रहती है। इसमें सर्प की भांति साढ़े तीन गेंडुरी होती हैं। इसीलिये इसे 'सर्प शक्ति' भी कहते हैं। यह अधोमुख किये हुए, मेरुदंड के पेंदे में मूलाधार चक्र में स्थित तथा सुषुम्ना नाड़ी के मुख से सिर नीचे किये हुए है। यह विश्व की सृजनात्मक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है और सृजन कार्य में सतत् व्यस्त रहती है। इसकी तीनों गेंडुरियां प्रकृति के तीनों गुण सत् रज और तम को व्यक्त करती हैं। आधी गेंडुरी विकृति अर्थात प्रकृति के रूपान्तरी कारण को व्यक्त करतीहै। कुण्डलिनी के जागरण और सहस्रार चक्र में इसके सम्मिलन से समाधि को अवस्था तथा मोक्ष को प्राप्ति हो सकती है। इसके जागरण से अष्ट मुख्य सिद्धियां और बत्तीस गौण सिद्धियां प्राप्त होती हैं व योगी मनोवांछित काल तक जीवित रह सकता है। प्राणायाम में कुम्भक करने से शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है। जिससे कुण्डलिनी जाग्रत होकर सुषुम्ना नाड़ी में होती हुई ऊपर चढ़ने लगती है व धीरे–धीरे छः चक्रों को भेदती हुई कपाल स्थित सहस्रार में वास करने वाली श्री हरि से मिल जाती है। इसी समय योगी को निर्विकल्प समाधि लगती है और वह मुक्तावस्था को प्राप्त करते हुए दैवीय ऐश्वर्यो का भोग करता है। मणिपुर चक्र तक चढ़ी हुई कुण्डलिनी फिर गिरकर मूलाधार चक्र में आ जाती है, अतएव इसको फिर उठाने का प्रयत्न करना चाहिये। कुण्डलिनी सूत की तरह पतली होती है और

जगाने पर डंडा मारे हुए सर्प की तरफ फुफकार मारती हुई सुषुम्ना नाड़ी रूपी बिल में घुस जाती है। इसके पश्चात जब यह एक के बाद एक चक्र को क्रमशः भेदन करती हुई आगे बढ़ती है तो मस्तिष्क की तहें धीरे-धीरे खुलती जाती हैं और तभी योगी को अनेक दैवी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

मेरुदण्ड (पीठ की रीढ़) के वाम भाग में बहने वाली चन्द्र रूपिणी इड़ा और दाहिने भाग में बहने वाली सूर्य रूपिणी पिंगला और इन दोनों के बीच में जिसका प्रवाह हैं वह है चन्द्र सूर्याग्नि, रूपिणी, त्रिगुणमयी सुषुम्ना। इस सुषुम्ना नाड़ी के अंतर्गत और भी नाड़ियां हैं, जिसमें एक चित्रिणी नाम की नाड़ी है। इसी चित्रिणी नाड़ी में होकर कुण्डलिनी शक्ति का रास्ता है। इसलिये इस सुषुम्ना नाड़ी के दोनों तरफ से बहने वाली उपर्युक्त दोनों नाड़ियां इड़ा व पिंगला पहले दो कुण्डल हैं।

कुण्डलिनी शक्ति के व्यक्त होने के साथ वेग उत्पन्न होता है। उससे जो पहला स्फोट होता हैं उसको नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता हैं और प्रकाश का व्यक्त रूप महाबिन्दु हैं। नाद के तीन भेद हैं। महानाद, नादान्त और निरोधिनी। बिन्दु के भी तीन भेद है, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, सूर्य चन्द्र और अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जीव सृष्टि में होने वाला जो नाद है वही ॐकार है, उसी को शब्द ब्रह्म कहते है। ॐकार से बावन मातृकाएं उत्पन्न हुई हैं इनमें पचास अक्षर मय और इक्यावनवीं प्रकाशरूप है व बावनवीं प्रकाश का प्रवाह है। इसी बाबनवीं मात्रा को सत्तरहवीं जीवन कला कहते हैं। उपर्युक्त पचास मातृकाएं लोम और विलोम रूप से होती है। वह ही सौ कुण्डल हैं। इन कुण्डलों को धारण की हुई मातृकामयी कुण्डलिनी है। इसी कुण्डलिनी शक्ति से चैतन्यमय जीव देहेन्द्रिय आदि युक्त जीव रूप धारण किये हुए प्राण शक्ति को साथ किये हुए स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोष का स्वामी होता है।

इस जीव को जीवत्व की चेतना सहस्रार चक्र से अनाहत में अर्थात् हृत् चक्र मे आने पर होता है। सहस्रार चक्र में अव्यक्त नाद है। यही

आज्ञाचक्र में आकर ॐकार से उत्पन्न होने वाली पचास मातृकाओं की अव्यक्त स्थित का स्थान सहस्रार चक्र है। इस स्थान को अकुल स्थान कहते हैं। यही श्री शिव का स्थान है। शिव शक्ति अर्धनारी नटेश्वर हैं। शक्ति व्यक्त और शिव अव्यक्त हैं। इस अकुल स्थान से उत्पन्न होने वाली जो जो मातृकाएं जिस–जिस स्थान से व्यक्त हुई हैं उन–उन मातृकाओं और उनके उन–उन स्थानों को लोम विलोम रूप में आगे बतलाया है। इसके सिवाय और भी बहुत सी नाडियाँ व चक्र आदि हैं जिनका कि यहाँ विस्तार के भय से लिखना असम्भव है।

-: अथ वर्ण माला चक्रः-

क्षं

अं	अकुल	ळं	औं	लम्बिका	पं
आं	भहाबिन्दु	हं	अं	विशुद्धि	नं
इं	उन्मना	सं	अः	अंतराल	घं
ई	समना	षं	कं	अनाहत	दं
उं	व्यापिका	शं	खं	अंतराल	थं
ऊं	शक्ति	वं	गं	अंतराल	तं
ऋं	नादान्त	लं	घं	मणिपुर	णं
ॠं	नाद	रं	ङं	स्वाधिष्ठान	ढं
लृं	रोधिनी	यं	चं	आधार	डं
ॡं	अर्धचन्द्रिका	मं	छं	विभुव	ठं
एं	बिन्दू	भं	जं	कुलपद्म	टं
ऐं	आज्ञा	वं	झं	कुला	जं
ओं	अंतराल	फं			

इस नक्शे में लिखे हुए पच्चीस स्थानों के संबंध में लोभ विलोमनात्मक श्लोक नीचे दिये जाते हैं।

यह एक माला ही है। यह माला फेरते हुए जप करने से वृत्ति का इधर उधर भटकना असंभव हो जाता है।

लोम श्लोक

आधार नाद सूत्रेण ध्यायते वर्ण मणीन् क्रमात्।
अकुलं च महाबिन्दुः उन्मना समना तथा।।
व्यापिका शक्ति नादान्त नादरोधिनी अर्ध चन्द्रिका।
विन्दुराज्ञा ततश्चैकं लम्बिकाय विशुद्धिका।।
एकं ततोऽनाहत द्वे मणिपूरं तथैव च।
स्वाधिष्ठानाधारके विष्णुः संज्ञं कुलं तथा।।
कुलाय चेति स्थानां पंच विंशति संख्यका इति।।

विलोम श्लोक

कुलाथ कुल पद्मं च
विभुवाधार संज्ञकम्
स्वाधिष्ठानं मणिपुर
मन्तराल द्वयं तथा।।
अनाहतं चान्तरालं
विशुद्धिश्चाथ लम्बिका।
अन्तरालाज्ञा च विन्दु
अर्धचन्द्रा व रोधिनी।।
नादोनादान्त शक्तिश्च
व्यापिका समना तथा।।

उन्मना च महाविन्दुर
कुलं च विलोमतः ।।

कुण्डलिनी शक्ति और प्राण शक्ति को साथ लेकर जीव इस लोक की यात्रा करने के लिए माता की कोख में आता है। प्रारब्ध कर्म को भोगने के उपयुक्त अथवा प्रारब्ध कर्म के अनुसार जीव अन्धत्व–मूकत्व दोष भी संग लेकर आता है। छः महीने तक जो जीव माता के आसपास ही घूमा करता है पश्चात् जीवेश्वर अपनी संगिनी कुण्डलिनी और प्राण शक्ति के साथ मातृ गर्भ में प्रवेश करता है। प्रवेश करते हुए कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में अपना मुख्य स्थान नियत करती है और पीछे षट् चक्रों में तथा अन्यान्य सब रन्ध्रों और कुहरों में प्राणशक्ति के साथ प्रवेश करती है, और अंत में स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन लपेटों में लपेट कर और लिपट कर बैठ जाती है या सो जाती है और सो रहती है अथवा साम्यावस्था में रहती है। जब इड़ा और पिंगला नाड़ियां समगति से चलती हैं उस समय उनका सुषुम्ना नाड़ी में लय हो जाता है। इस अवस्था में सुषुम्ना नाड़ी में कुण्डलिनी प्रवेश करती है। कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके व सहस्रार में पहुंच कर जब वहां शांत होती है। तब उस अवस्था को समाधि कहते हैं। योगी जब इस समाधि स्थिति में होते हैं तब उनके शरीर विकार रहित अर्थात् वर्धते, विपरिणमते

नश्यतीति विकारों से रहित हो जाते है। उनके नख केशादि नहीं बढ़ते। प्राण क्रिया बंद होने से नाड़ी का चलना और हृदय का आकुञ्चन–प्रसारण बंद हो जाता है। इसीलिये ऐसे योगी को कालभक्षक अथवा कालान्तक योगी कहते हैं। यही कारण हैं कि योगी सैकड़ों वर्षो तक जीवित रह सकते हैं। आजकल भी हिमालय में दो–दो सौ तीन–तीन सौ वर्ष के योगी लोग वर्तमान हैं।

सभी जीव जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाओं का अनुभव करते हैं तुरीय का ज्ञान केवल योगियों को ही होता है। इन तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी की स्थिति साम्यावस्था में होती है और उसके कारण शरीर धारण का कार्य होता है। अव्यक्त सोऽहं ही कुण्डलिनी की

साम्यावस्था है। इस सोऽहं शब्द की अनुभूति आज्ञा चक्र में होती हैं और वही सोऽहं शब्द प्राणवायु के द्वारा अनाहत चक्र में पहुंचकर अनाहत चक्र की प्रथम मातृका 'क' का सहारा पाकर 'कोह' शब्द में परिणित होता है। आज्ञाचक्र को अनुभव करने वाला जीव आत्म स्वरूप को नहीं भूलता परंतु नीचे उतरने पर नाना प्रकार के विषयों में लोलुप होकर 'सोहं' के बदले 'कोऽहं' कहने लगता है और आसपास के लोगों के साहचर्य से विकृत ज्ञान होकर 'देहोऽहं' कहने लगता है अर्थात् देहात्मवादी बन जाता है। इसके बाद सहस्रार चक्र के नीचे आकर अनाहत में, अनाहत से मणिपुर में, फिर स्वाधिष्ठान में और वहां से मूलाधार में आकर प्राणशक्ति के सहारे पूर्ण जीवत्व को प्राप्त होता है। यही जीव स्वयम्भू लिंग को लपेटी हुई कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करके ऊर्ध्व गामी होकर देवत्व को प्राप्त अर्थात् देवरूप होता है।

'जीवो ब्रह्मैव नापरः' जीव ब्रह्म रूप ही है और तदनुसार जो ब्रह्मण्ड में है वहीं पिण्ड में है। कुण्डलिनी शक्ति जैसे ब्रह्माण्ड में है वैसे ही पिण्ड में है। पिण्ड से पिण्ड 'ग्रास' करना यह है कि कुण्डलिनी रूप पिंड देहरूप पिंड का ग्रास करे। कुण्डलिनी जब जाग उठती है तब वह देह गत सब त्याज्य पदार्थ, कफ, पित्तादि दोष नष्ट कर देती है और जब ऊर्ध्वगामिनी होती है तब देह के चलन वलनादि व्यापार बंद हो जाते हैं। केवल इतना ही नही बल्कि हृदय का आकुञ्चन प्रसारण और नाड़ी की गति भी बंद हो जाती है, अंत में कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार स्थित परम शिव से जा मिलती है। उस दशा में जीव अपना जीवत्व पीछे छोड़कर शिव पदवी को प्राप्त हो जाता है।

यह कुण्डलिनी सहस्रार में प्रकाशरूप में स्थित है। जीव को जीवत्व देने के लिए यह शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर छिद्रों में प्रवेश करके, सूक्ष्म नाड़ी जो सुषुम्ना है उससे भी सूक्ष्म वज्रा, वज्रा से भी सूक्ष्म चित्रणी, चित्रणी से भी सूक्ष्म ब्रह्म नाड़ी में होकर प्रवाहित होती है। इसे मृणाल तंतु की उपमा दी गई है। यह प्रकाशमय है। अब कुण्डलिनी का महत्व सूक्ष्म रूप से प्रकट हो गया।

कुण्डलिनी का असमय जागरण

मन और इन्द्रिय का दमन किये बिना केवल स्थूल शारीरिक अभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत और षट्चक्र भेद करने से बड़ी हानि होती है। भुवलोक के राजसिक, तामसिक क्षुद्र देव नाना प्रकार के माया जाल रचकर असत्य भाषण व दृश्य के द्वारा साधक के दोषों को बढ़ाकर तथा उसे भ्रम में डालकर उसका अधःपतन करा देते हैं। यदि साधक इन से बच भी जाय तो भी वह उस जन्म में योगोन्नति नहीं कर सकता क्योंकि उसके अंग उस तरह निस्तेज और निःशक्त हो जाते हैं जैसे किसी फूल की कली को तोड़कर उसे खिलाने का यत्न करने पर भी मुर्झा जाती है। कुण्डलिनी जागृत होने पर सम्पूर्ण मेरुदण्ड स्वाधिष्ठान से लेकर भ्रूमध्य तक ज्वाला से भर जाती है। यही कुण्डलिनी के जाग्रत होने का चिन्ह है और कुण्डलिनी के उत्थान की यह उत्तम प्रकार की दीक्षा है जो सद्‌गुरु द्वारा प्राप्त होती है न कि भौतिक क्रिया द्वारा।

सहस्रार के नीचे सभी चक्र अधोन्मुखी ही है। जब कुण्डलिनी का उत्थान होता है तो यह उर्ध्वोन्मुख होते हैं। कुण्डलिनी शक्ति का जाग उठना दो प्रकार से होता है। एक तो हठयोग से दूसरा भावना योग से। हठ या भावना योग करते हुये आसन भी उपयुक्त होना चाहिये। हर एक आसन से यह सफलता नहीं हो सकती। कोई साधक यदि चाहे कि मैं कोई साधारण आसन करके कुण्डलिनी को जाग्रत व चक्रों को ऊर्ध्वोन्मुख कर लूंगा तो यह असंभव है। पद्मासन, वज्रासन अथवा सिंद्धासन द्वारा ही यह महत्वपूर्ण कार्य का सफलता पूर्वक सम्पादन हो सकता है।

कुण्डलिनी शक्तियोग में साधक को षट् चक्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये कि कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार से सहस्रार तक चलती है और कृष्णपक्ष में ऐसी भावना करना चाहिये कि कुण्डलिनी सहस्रार से चलकर मूलाधार में आती है।

षट्चक्र निरूपण में बतलाया है कि योगी षण्मुखी (षण्मुखी) अथवा खेचरी मुद्रा सिद्ध करें। प्रणव का ध्यान भ्रूमध्य में करें। अंतःकरण

के अंतरिक्ष में 'पवन' सुहृदां वन्हिकणान् ज्योतिः पश्यति' इस प्रकार उसे प्रकाश साक्षात्कार होता है।

श्री भगवती की कृपा से भी कुण्डलिनी जाग्रत होती है। श्री रामकृष्ण परमहंस के पास उन्होंने एक योगिनी भेजकर सब यौगिक क्रियायें करा दीं थीं।

कुण्डलिनी का उत्थापन होने से सब चक्र अपने वर्णों के साथ प्रकाशित देख पड़ते हैं। भावना से और क्रमशः इष्टदेव के प्रसाद तथा गुरु कृपा से कुण्डलिनी योग सिद्ध होता है। भावना से जो अनुभव प्राप्त होता है वहीं अनुभव हठयोग से भी साधन करने पर होता है। हठयोग से कुण्डलिनी उत्थान हो जाये तो भी इष्ट देव के प्रसाद से दिग्बंध का होना तो आवश्यक ही हैं, नहीं तो पिशाचादि अनिष्ट भूतसङ्ग द्वारा प्रत्यवाय हो सकता है। इष्टदेव के प्रसन्न होने पर इष्टदेव ही मानव रूप धारण करके साधक को योग की सब क्रियायें करा देते हैं।

तंत्रमार्गीय गुरु शक्तिपात करके शिष्य के भ्रूमध्य और विशुद्धाख्य में स्पर्श करके प्रकाश का अनुभव करा देते हैं। आजकल शक्तिपात करके कुण्डलिनी उत्थान कराने वाले गुरु बहुत ही कम मिलते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति योगी निर्भय और आनन्दनिमग्न रहता है और श्री भगवती की उस पर पूर्ण कृपा होती है और वह सदा भगवती के संग रहता है। साधक को चाहिये कि वह संसार के तुच्छ सुखों से मुख मोड़कर कुण्डलिनी शक्ति योग के दुर्लभ आनन्द को प्राप्त करें। भगवती की कृपा का अनुभव उसे समय–समय पर होता रहता है। उसके कानों में यह दिव्य संदेश की ध्वनि गूंजती रहती है कि 'मैं तुम्हारे पीछे खड़ी हूं।

योग साधन के साथ कुंडलिनी जागरण करना विशेष महत्व रखने के कारण अत्यंत आवश्यक है। साधारण मनुष्यों में यह सोई रहती है योगाभ्यासी लोग इसे योग क्रियाओं के द्वारा जाग्रत करके षट्चक्र भेदन करते हुए मस्तिष्क स्थित सहस्रार में ले जाकर योग सिद्धि प्राप्त करते हैं।

उपनिषदों में कुण्डलिनी को 'नाचिकेति' कहते हैं। जो जो साधक इसे जाग्रत कर लेते हैं वे जन्म–मृत्यु रहित हो जाते हैं तथा उनका शरीर, जरा, व्याधि और मृत्यु के पार हो जाते हैं। यूरोपियन महिला

'ब्लेवट्सकी' इसको विश्व व्यापी विद्युत शक्ति कहती थीं। वास्तव में बात भी ऐसी ही है, क्योंकि प्रकाश के चलने की रफ्तार तो प्रति सेकिन्ड १८५०० मील है लेकिन कुण्डलिनी शक्ति की चाल ३४५००० मील प्रति सेकिन्ड बतलाई हैं।

असावधानी के साथ बगैर गुरु की संरक्षणता के इस शक्ति को जाग्रत करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये अन्यथा कुण्डलिनी नीचे की ओर प्रवृत्त होकर भोगवासना और जननेन्द्रिय की प्रवृत्ति को बहुत बढ़ा सकती है। इसको जाग्रत करने के पहले अष्टांग योग अर्थात यम, नियम आदि का पूर्णरूप से पालन करना परम आवश्यक है। बड़े भारी प्रारब्ध का उदय होने पर ही साधक की कुण्डलिनी जाग्रत होकर आत्मा के साथ मिलकर नेत्ररंध्र मार्ग से निकलकर ऊर्ध्वभागस्थ राजमार्ग नामक स्थल में परिभ्रमण करती है। साधक शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करता हुआ कुण्डलिनी का ध्यान करें। इसको सूक्ष्म ध्यान कहते हैं। यह ध्यान अति गोपनीय है। स्थूल ध्यान से ज्योतिर्ध्यान सौ गुना श्रेष्ठ है और ज्योतिर्ध्यान से यह सूक्ष्म ध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है। इस दुर्लभ ध्यान योग द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है। और ध्यान सिद्धि प्राप्त होती है, यह घेरंड ऋषि का मत है।

जिनको शास्त्र ज्ञान है और जो आध्यात्मिक विषय की कुछ भी जानकारी नहीं रखते हैं, वे जानते हैं, कि जीव की स्थूल शरीर की तरह एक सूक्ष्म शरीर भी होता है। यह सूक्ष्म शरीर साधारणतया स्थूल शरीर के साथ इतनी धनिष्ठता के साथ संलग्न रहता है कि दीर्घकाल तक अभ्यास किये बिना मनुष्य केवल इच्छा करके इसको स्थूल शरीर से पृथक नहीं कर सकता परंतु अलग न कर सकने पर भी वह अनेक कारणों से सहज ही उसके पृथक होने का अनुभव कर सकता है। स्वप्नादि में अथवा जीवित दशा में किसी–किसी अनुभूति में, और सूक्ष्मदर्शियों द्वारा देखे गये मृत्युकालीन अनुभव में सूक्ष्म शरीर की पृथक सत्ता स्पष्ट ही मालूम हो सकती है। जिस तरह कोल्हू में तिल पेरकर तेल निकाला जाता है। उसी तरह प्रक्रिया विशेष द्वारा स्थूल शरीर से भी सूक्ष्म शरीर को अलग किया जा सकता है संपूर्ण रूप में न सही

आंशिक रूप में प्रायः सभी अभ्यास करने वाले इसे कर सकते है इस अवस्था में स्थूल शरीर अकर्मण्यवत् पड़ा रहता है और सूक्ष्म उससे बाहर निकल कर नाना स्थानों में घूम फिर कर पुनः जब स्थूल शरीर में घुस जाता है तब वह चैतन्य प्राप्त कर लेता है और उसमें पहले की तरह ज्ञान और क्रिया का संचार हो जाता है। यह सूक्ष्म शरीर भौतिक आवरण के द्वारा प्रतिरूद्ध नहीं होता और नस्थूल जगत् का कोई भी नियम विशेष रूप से इस पर प्रभाव डाल सकता है। कोई–कोई योगी घर के अंदर बंद रहकर और स्थूल शरीर को जहां का तहां रखकर भी, सूक्ष्म शरीर के द्वारा दीवाल आदि आवरणात्मक घेरे को भेदकर बहिर्जगत् भ्रमण कर सकते हैं। इस अवस्था में उनका स्थूल शरीर घर में निष्क्रिय अवस्था में आवद्ध रहता है। कोई भी मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा इस स्थूल शरीर का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो शरीर घर में आवद्ध रहता है वह स्थूल शरीर है। और जो निकल कर इधर–उधर जाता है वह सूक्ष्म शरीर है। दोनों शरीर परस्पर सम्बद्ध होने पर भी पृथक् हैं। यह पार्थक्य वियोग मार्ग द्वारा उपलब्ध होता हैं परंतु एक ऐसी अवस्था भी होती है जिसमें यह निर्णय करना कठिन हो जाताहै कि वह पूर्व लिखित देह स्थूल है या सूक्ष्म, क्योंकि ऐसा भी देखा जाता है कि एक योगी घर के अंदर बंद रहकर जब घर के बाहर निकले तब घर में पहले के समान स्थूल शरीर आसन पर नहीं रहा, अर्थात् वह समस्त शरीर को लेकर बाहर निकल गये और इच्छानुसार घूमते रहे व किसी को दिखाई भी पड़े। जिस शरीर से वह घर से निकलकर दीवाल आदि आवरण भेदकर बाहर चले गये, वह लौकिक स्थूल शरीर नहीं था यह कहना न होगा क्योंकि वैसा शरीर प्रतिघात–धर्म विशिष्ट दीवाल आदि को भेदकर जाने में समर्थ नहीं होता। साथ ही वह सूक्ष्म शरीर भी नहीं है। यह भी निश्चित है, क्योंकि यदि वह सूक्ष्म शरीर होता तो स्थूल शरीर निष्क्रिय रूप से आसन पर मौजूद होना चाहिए था। योगी लोग ऐसी देह को सिद्ध देह कहते हैं। यह सिद्ध देह स्थूल और सूक्ष्म दोनों के परस्पर अत्यंत घन संश्लेषण से उत्पन्न होती है।

इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों के धर्म दृष्टिगोचर होते है। अतएव इसे स्थूल व सूक्ष्म दोनों ही कह सकते हैं। परन्तु वह वास्तव में दोनों

नहीं है। यह अवस्था योग मार्ग से ही प्राप्त होती है। सर्वारम्भ में इस प्रकार का योग संभव नहीं पहले वियोग मार्ग की साधना के द्वारा मिश्र सत्ता के अंदर वर्तमान दोनो सत्ताओं को पृथक् करना होता हैं और उसके बाद योग मार्ग की साधना के द्वारा उन दोनों को मिलाकर एक कर लेना होता है।

प्राण शक्तियोग और परकाय प्रवेश

प्राचीन पद्धति में प्राणमय शरीर के उद्गमन का अभ्यास किसी अनुभवी गुरु की संरक्षता में ही किया जा सकता है। पतंजलि योग सूत्र में इस के योगिक उपाय बतलाये हैं। यंत्र, मंत्र और तंत्र के ग्रंथों में भी प्राणमय शरीर के उदगमन अर्थात परकाय प्रवेश के साधन मौजूद हैं।

(१) जगद्गुरु शंकराचार्य जी ने लिखा है कि श्री पतंजलि महामुनि के 'यथाभिमत ध्यानाद्वा' इस सूत्र के अनुसार ध्यान करने से परकाय प्रवेश सिद्ध होता है। श्री शंकराचार्य जी ने इस विद्या साधन के लिये एक मंत्र भी बतलाया है जिसके साथ 'सौंदर्य लहरी' एक यंत्र भी है। उसके साथ 'सौंदर्य लहरी' के एक श्लोक का पाठ भी करना पड़ता है। वह श्लोक वह मंत्र और यंत्र प्रक्रिया सहित नीचे दिया जाता है।

(२) हिमानी हन्तव्यं हिमगिरिनिवासैक चतुरो।
निशायां निद्राणं निशिचरम भागे च विशदो।।
वरं लक्ष्मी पात्रं श्रियमति सृजन्तो सममितां।
सरोजं त्वत्पादौ जननि जयतश्चित्रमिहकिम्।।

यंत्र प्रक्रिया

जी

फल् | आं | वि

हीं

क्रों

हूं | | नी

विधि

यह यंत्र सोने के पत्ते पर लिखकर इक्कीस दिन तक इसे मधु चित्रान्न और पायस का भोग लगावें।

उपर्युक्त श्लोक नित्य सहस्रवार जपे और इस मंत्र को सहस्रवार हल्दी विधे हुए किसी पीढ़े पर लिखे। इससे परकाय प्रवेश की विद्या सफल होती है।

(३) हठयोग की खेचरी मुद्रा से भी परकाय प्रवेश का सिद्ध होना हठयोग के ग्रंथ में लिखा है। परंतु शारीरिक उपायों से खेचरी सिद्ध करने के पूर्व खेचरी सिद्ध के लिए योगकुण्डल्युपनिषद् में नीचे लिखा मंत्र बतलाया है।

मंत्र :– ॐ ह्रीं रं सं मं फं लं अं म् ख् फें ग् स्म लों

यंत्र प्रक्रिया
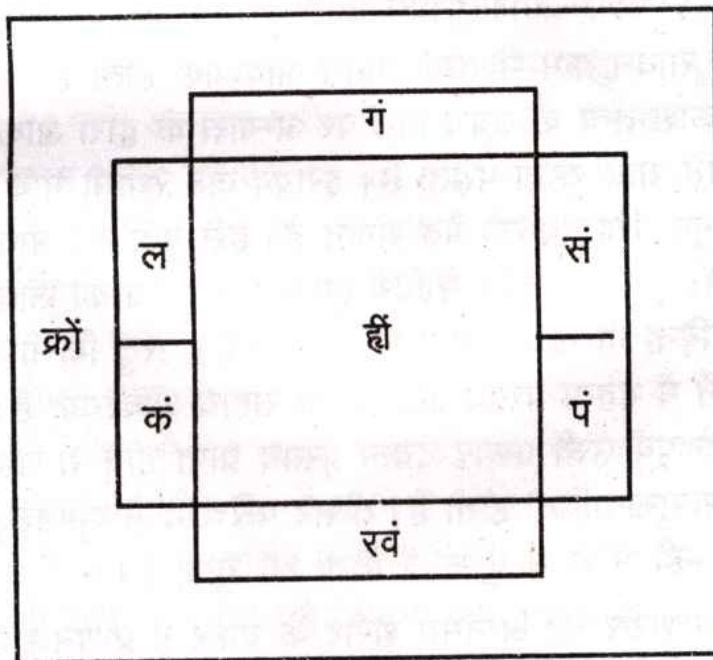
श्लोक :- *सोमांशतवकं वर्ण प्रतिलोभेन चोद्धरेत्।*
तस्मात त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्।।

तस्मादप्यष्टमं वर्ण विलोमेन परं मुने।
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पंचमी।।
इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽपं परकीर्तितः।
तस्य खेचरी सिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते।।
योग कुण्डल्युपनिषद मेलन मंत्र राजयुद्धरति—खेचरति।

ख वाचकतया चरतीति खेचरः हकारः आवरुथमिति धारणा शक्ति रीकारः रेति वहिः अम्बुमण्डल मिति विन्दुः। एतत्सर्व मिलित्वा भूषितं ह्रीमिति खेचरी बीज—माख्यातम्। तेनैव लम्बिका योगः प्रसिद्धयति। शिष्ट बीज षट्कमप्यम्बुमण्डल भूषितमिति ज्ञेयम। सोमांशः सकारः चन्द्रबीजं तत्प्रतिलोमेन तन्नवरुं वर्ण उद्धरेदभमिति। तस्माद् भकारादनुलोमेन त्रयशकं चन्द्रबीजमाख्यातं समिति। तस्माद सकाराद् विलोमेन अपरमष्टयं वर्णयुद्धरेदभमिति। तथा मकराद् विलोमेन अपरं पञ्चवर्णभमिति विद्धि। पुनरिन्दोश्च बीजं संमेल्योद्धरेत्। बहुभिःककार षकार बिन्दुभिः युक्ता यं कूटः क्षमिति। आहत्य बीजानिसप्त ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं इति।

प्राच्य साधन क्रम में तत्व साधन आवश्यक होता है। प्रातःकाल प्रथमतः आकाश तत्व के उदय होने पर अभ्यास के द्वारा आकाश तत्व को बारह घंटे साधे रहना पड़ता है। इसका जब स्थायी भाव होता हे, तब खेचरी मुद्रा सिद्ध करके बैठ सकते हैं। इस मुद्रा का साधन करते हुए पहले ओर दूसरे परिच्छेद में दिये हुए मंत्र ओर यंत्र को साधना होता है। यंत्र के बिना भी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। परंतु किसी भी कार्य के सिद्ध होने में देवता प्रसाद और देवता सहाय आवश्यक है। खेचरी सिद्ध होने के पूर्व उसी प्रकार देवता प्रसाद प्राप्त होने से वह खेचरी फलवती और सुखदायिनी होती है। तीसरे परिच्छेद में कुण्डल्युपनिषद का मंत्रोद्धार—ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं दिया जा चुका है।

प्राणमय शरीर को अन्नमय शरीर के बाहर व प्राणमय शरीर में जागने पर अन्नमय शरीर से निकलने की क्रिया मि. मुलडोन द्वारा लिखित 'प्राणमय शरीर उद्‌गमन' नामक ग्रंथ के निर्देशानुसार किया जा सकता है। पुस्तक मिलने का पता —

Mr. Muldone's Projection of Astral Body Publisher-Messers Rider & Co. Paternaster Row London & Co.

इस ग्रंथ में दिये हुए प्राण शरीरोद्‌गमन प्रयोग गुरु के बिना भी प्रयोग किये जा सकते हैं। इसके लिये कुछ आत्मसंयम की आवश्यकता होतीहै। कम से कम दो महिना लगातार किसी एकान्त स्थान में रहना पड़ेगा और आहार बिहार नियमित रखना पड़ेगा। ऐसा करने से मि. मुलड़ोन को जो अनुभव हुए हैं वह चाहे जो अभ्यासी कर सकेगा।

इसी प्रकार अन्नमय शरीर से प्राणमय शरीर को बाहर लिवा ला सकते हैं और जब यह प्रतीत होता है कि अन्नमय शरीर को छोड़ने पर हम हर तरह से जागते हुए रहते हैं। तब एक प्रकार का विलक्षण आनन्द आता है। यह आनन्द अपने अमरत्व की प्रतीति का है। यह अमरत्व केवल औपत्तिक नहीं, प्रत्यक्ष प्रयोग सिद्ध है। इस अमरत्व को लाभ करना ही मृत्यु को जीतना है। मृत्यु की क्रिया केवल अन्नमय शरीर के साथ प्राणमय शरीर को बांधने वाले जीव तन्तु को दूर कर अलग होना ही है। परंतु अन्नमय शरीर में रहते हुए ही जब हम इस जीव तन्तु और प्राणमय शरीर को अनुभव कर लेते हैं तब उस जीवतन्तु के अन्नमय शरीर को छोड़ देने पर भी साधक को मृत्यु का भय नहीं होता। श्री शंकराचार्य ने राजा सुधन्वा के मृत शरीर में प्रवेश किया था। राजा के गुरु और मंत्री को यह निश्चय हो गया था कि परकाय प्रवेश की क्रिया से किसी महापुरुष ने राजा के शरीर में प्रवेश किया है। इसलिये उन्होंने अपने राज्य में यह आज्ञा करा दी थी कि जहां कहीं भी कोई मृतक मानव शरीर मिले वह जला दिया जाये, ताकि महापुरुष के शरीर जला देने से उस स्थूल शरीर से जीवन तंतु दूर जावे और महापुरुष को राजा के ही शरीर में रहना पड़े। मनुष्य जब इस लोक से प्रयाण करता है तब उसका यह जीवन तन्तु दूर जाता है। इसे तोड़ना कभी–कभी इस स्थूल देहधारी जीव के हाथ में होता है।

प्राणमय शरीर के उदगमन की दो क्रियायें हैं। एक विज्ञात

उद्गमन की ओर दूसरी अज्ञात। अज्ञात उद्गमन निद्रावस्था का एक आवश्यक कर्म है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है। कि जागृत अवस्था में शरीर व्यापार चलाने में प्राणशक्ति का जो व्यय होता है, उसकी पूर्ति निद्राश्रित उद्गमन होता है।

विज्ञात उद्गमन दो प्रकार का है। एक प्राचीन योगशास्त्र की क्रिया से सिद्ध होने वाला दूसरा पाश्चात्य प्रयोग अर्थात् स्वप्नावस्थित नियंत्रण से सिद्ध होने वाला।

'बंधकारण शैथिल्यात प्रचार संवेदनाच्च चित्तस्य पर शरीर प्रवेशः– (पतञ्जलि यौग सूत्र तृ. ता सूत्र ३८)

कर्मानुसार प्राप्त होने वाले शरीर भोगों का भोक्ता जो जीव है उसे भोग से जो अवस्था प्राप्त होती है उसे बंध कहते हैं। जब सुख, दुःख पाप पुण्यादि के विषय में साधक को कोई प्रतिकूल या अनुकूल वेदना नहीं होती अर्थात् इन द्वन्द्वों को उसकी चित्तवृत्ति पार कर जाती है या यह कहिये कि उसका बंधन विलीन हो जाता हैं, तब साधक चित्तवहा नाड़ी में प्रवेश करता है। यह चित्तवहा नाड़ी प्राणवहा नाड़ी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होती है। इसमें प्रवेश करने पर साधक को अपने अंदर की तथा दूसरों के अंदर की चित्तवहा नाड़ी के प्रचार का ज्ञान होता है और वह किसी चेतन अचेतन प्राणी के शरीर में प्रवेश कर सकता है। तब मधु मक्खियों की रानी के पीछे–पीछे जैसे अन्य मधु मक्खियां चलती हैं वैसे ही उस साधक की चित्तवहा नाड़ी के पीछे–पीछे उसकी अन्य इन्द्रियां भी उस शरीर में प्रवेश करती है। इस प्रकार वह साधक अपने प्राणमय शरीर से दूसरे के स्थूल शरीर में रहकर सब काम करता है। विधि ऊपर लिखी जा चुकी है।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति–यह पांच वृत्तियां हैं। इनमें जो निद्रावृत्ति हैं उसके निरोध से परकाय प्रवेश की क्रिया सिद्ध होती है। स्मृति वृत्ति के निरोध के लिए साधक को अपने मनोमय शरीर में अन्तर्हित होना पड़ता है। चन्द्रनाड़ी वायें नासारन्ध्र से बहने वाली श्वास को कहते हैं। परन्तु यहां चन्द्रनाड़ी का अभिप्राय उस चन्द्रनाड़ी

से नहीं है। यह नाड़ियाँ अनेक हैं और शरीर के अभ्यन्तर भाग में हैं। पाचक रस का उत्पन्न होना और बाहर निकलना, खाये हुए पदार्थ में से सारभाग निकाल लेना, रक्ताभिसरण की क्रिया का होना और श्वास–प्रश्वास का चलना यह सब कार्य चन्द्र नाड़ियों में प्रवाहित होने वाली प्राणशक्ति से हुआ करते हैं। पहले तत्वाभ्यास करके, प्रातःकाल या सायंकाल चन्द्रस्वर को २ घंटा २४ मिनिट स्थिर रखकर उस समय खेचरी मुद्रा सिद्ध करके उस समता को यदि स्थिर रक्खा जाये तो चन्द्रनाड़ी का निरोध होता है और उससे हृदय क्रिया बन्द होती है व नाड़ियों में होने वाला रक्त प्रवाह बंद हो जाता है। उस समय प्राणमय शरीर अन्नमय शरीर में बहने लगता है, अर्थात बाहर निकलकर स्वच्छन्दगामी होता हे। ऐसे समय में अन्नमय शरीर स्फटिक मणि सा उज्जवल दिखाई पड़ता है। उस समय प्रकाश साक्षात्कार होता है। दूर शब्द श्रवण, दूर दर्शन आदि क्रियायें सिद्ध होती है। यही स्मृति वृत्ति का निरोध है। अन्नमय शरीर में लौटते समय ऐसा प्रतीत होता है कि स्थूल शरीर में मानो सहस्रों जल धारायें एक साथ प्रवाहित हो रही हैं और इससे स्थूल शरीर में एक विलक्षण महान आनन्द अनुभूत होता है।

निद्रावृत्ति के निरोध के लिए वरणा नाड़ी का निरोध आवश्यक है। वरणा नाड़ी मनोमय शरीर में नादविन्दु–कला और आज्ञ चक्र तक फ़ैली हुई है। चन्द्रनाड़ी की अपेक्षा यह नाड़ी सूक्ष्म है और इसे मनोवहा नाड़ी कहते हैं। सुषुम्ना नाड़ी के कंद में अर्थात् सहस्रार के अंदर अतिशय आभ्यंतर में इस नाड़ी का होना अनुभूत होता है। चन्द्र नाड़ी के निरोध से इसका निरोध होता है और इसके निरोध से निद्रावृत्ति का निरोध होता है। वरना नाड़ी के निरोध से पूर्वजन्म की स्मृति प्राप्त होती है। चन्द्र नाड़ी के निरोध से प्राणमय शरीर अन्नमय शरीर के साथ अन्नमय शरीर के बाहर निकाल लिया जाता है। यही परकाय प्रवेश के लिए उपयुक्त परिस्थिति है।

पाश्चात्य लोगों के प्राणमय शरीरोद्गमन की क्रिया स्वप्नास्थित नियंत्रण है। हम लोगों का निद्रावृत्ति निरोध और उन लोगों का स्वप्नास्थित

नियंत्रण दोनों क्रियायें प्रायः एक ही हैं। साधक को चाहिये कि पहले स्वप्नास्थित नियंत्रण का अभ्यास करें। स्वप्न का नियंत्रण यह है कि आज रात को अमुक प्रकार का स्वप्न ही हम देखेंगे यह निश्चय करके हम सो जावें, इस प्रकार के अभ्यास से जब स्वप्नास्थित का नियंत्रण हो जायेगा, तब ऐसी भावना करना आरम्भ करे कि आज की स्वप्नास्थित में हमारा प्राणमय शरीर अन्नमय शरीर के बाहर अमुक स्थानों में जाये। ऐसी दृढ़ भावना करके सोने का अभ्यास करे। इस अभ्यास से यह अनुभव होगा कि प्राणमय शरीर संकल्प के अनुसार तत्तत् स्थानों में पहुंचता हैं, अभ्यासी यह अनुभव दूसरों को भी करा सकते हैं। प्रबल संकल्प बल से स्थूल पदार्थ भी स्पर्श शक्ति से हिलाये जा सकते हैं।

मि. मुलडोन ने अन्नमय शरीर के उद्‌गमन की विधि इस प्रकार है। मत्स्य, मांस और उत्तेजक पदार्थों का सेवन न करें। जिस दिन प्रयोग करना हो, उस दिन उपवास करना अच्छा है। कम से कम प्यास बनी रहे उसे न बुझावे। (हृदय की बीमारी व जल्दी डरने वालों को यह क्रिया न करनी चाहिये) – प्रयोग दिन में न करे और उस वक्त दीपक भी न हो। चारपाई पर पीठ के बल लेट जावे। दोनों आंखों की पुतलियों को भ्रूमध्य की ओर ले जाकर स्थिर करें और यह भावना करे कि हम विन्दु के समीप हैं। अनन्तर यह भावना करे कि हमारा प्राणमय शरीर विन्दु से बाहर निकल रहा है। इस क्रिया से आखें दुखेंगी परंतु यह क्रिया बहुत ही कार्यक्षम है।

एक दूसरी क्रिया यह है कि रात को जल्द सो जाये और लगभग दो बजे रात को उठे। इस समय ऐसी प्रबल इच्छा करे कि प्राणमय शरीर को बाहर ले जाना है ऐसी भावना करे कि किसी हवाई जहाज में बैठे या लिफ्ट में खड़े ऊपर चले जा रहे हैं, इस भावना के साथ सो जाये अथवा ऐसी भावना करे कि किसी सरोवर में तैरते हुए या चक्राकार गति से ऊपर जा रहे हैं। आगे पीछे अगल बगल चलने वाले वायु की ओर हम देख रहे हैं। अथवा शंक्वाकार किसी महान शंकु से बाहर निकल रहे हैं। अथवा यह भावना करें कि अग्निज्वाला सामने हैं और उसमें हम मिल गये हैं अथवा विमान में बैठे ऊपर जा रहे हैं।

प्रयोगवाले दिन पानी बिल्कुल न पियें। अगर न रहा जाये तो नमक डालकर एक घूंट पानी पीले, इससे प्यास बढ़ जायेगी। जलवाले घर में लोटा या पानी का गिलास जल भरकर रखे और उस पर दृष्टि गढ़ाकर सो जाये और सोने वाले कमरे से वहां तक का रास्ता ध्यान में ले आवे। इससे नींद लगते ही प्राणमय शरीर जल से भरे उस गिलास के पास पहुंचेगा। जिस दिन जहां इस प्रकार जाने की इच्छा हो, उसी को दिन भर सोचता रहे और यह भी निश्चय कर ले कि वहां जाकर अमुक मनुष्य से मिलना है। कुछ दिन पहले ही से समय और स्थान निश्चित करके उस दिन और समय की प्रतीक्षा करता रहे। भावना दृढ़ होने से उस दिन उस समय उस स्थान में उसके पास पहुंचे यह उस व्यक्ति को अनुभव होगा।

नोट – खेचरी सिद्ध करने का साधन लूनावाला (बम्बई) के स्वामी कुवल्यानंद या स्वा. अभ्यानंद या वीरभद्र पो. ऋषीकेश के स्वा. सत्यानंद के पास जाने से सुगमता से हो सकता है।

योग व दिव्य चक्षु

प्रत्येक जीवात्मा के सिर में तीन नेत्र होते हैं एक बंद और दो खुले रहते हैं। अर्थात् एक गुप्त और दो प्रकट होते हैं। इस गुप्त नेत्र को दिव्य चक्षु कहते हैं। इसी नेत्र को योगी लोग शिव नेत्र कहते हैं। अतएव शिवनेत्र केवल शंकरजी के शरीर में हैं यह भ्रम है। योग विद्या बतलाती है कि तीसरा नेत्र सबमें विद्यमान है और जो भी चाहे वह भगवान शंकर की तरह उन्मीलन कर सकता हे। चाहे उससे आग निकाली जाये या पानी आदि, क्योंकि वहां पंचतत्वों का एक केन्द्र है।

शिव नेत्र में ब्रह्म का, दाहिने नेत्र में काल का और बायें नेत्र में शक्ति का निवास रहता है। इन तीनों अंशों की संयुक्त अवस्था ही ईश्वर का रूप है। शिव नेत्र का संबंध ब्रह्म मण्डल से है, दाहिने का सूर्य मंडल से और बाएं का चन्द्रमंडल से है। शिव नेत्र से विचार, दाहिने से इच्छा और बाएं से क्रिया उत्पन्न होती है।

प्रत्येक घट में दिव्य चक्षु होने का एक प्रत्यक्ष प्रमाण तो यह है कि सोने के समय दोनों बाहरी नेत्र बंद हो जाते हैं अतएव मनुष्य स्वप्न में जो बातें देखता हैं वह उसी नेत्र के द्वारा देखता है। दिव्य चक्षु का प्रकाश बाहरी दुनियां में उस वक्त तक नहीं हो सकता जब तक कि उसका उन्मीलन न किया जाये। परंतु दिव्य चक्षु का प्रकाश भीतरी दुनियां में (सूक्ष्म, कारण और आत्म जगत् में) स्वयं पूर्णरूप से रहता है। इसी कारण स्वप्न में जो कुछ होता है, वह उसे ही दिखलाई पड़ता है। स्वप्न में मन नहीं देखता, क्योंकि मन में देखने की शक्ति नहीं होती। यदि मन ही देखता होता तो उसे अपना आकार क्यों दिखता? स्वप्न में अपना मन आकार धारण कर लेता है और स्वप्न देखने वाले की सूरत बना लेता है। यदि मन ही देखता होता तो आप अपने मन को धारण किया हुआ साकार कैसे देख सकते थे? स्वप्न में आप सहित सभी बातें दिखलाई दिया करती है। शिवनेत्र ही का प्रकाश आपके मन का आकार आपको दिखलाता है। अतएव स्वप्नों का न देखना मन की शक्ति के अंतर्गत नहीं उसी दिव्य चक्षु के अंतर्गत है।

सिनेमा के पर्दे पर जो खेल होता है। वह फिल्म रूपी मन की लीला अवश्य है, परंतु उस लीला को प्रकाशित करने का श्रेय उस रोशनी को है, जो ऊपर से आकर उस पर्दे पर पड़ रही है।

चक्षु के उन्मीलन की विधि पद्मासन से बैठकर नेत्र बंद करे, जीभ को तालु से लगावे, अपने ध्यान को दोनों भ्रकुटियों के मध्य में अर्थात् नाक, की जड़ से दो अंगुल ऊपर जमावे। यह ध्यान सर के बाहरी भाग पर न करके भीतरी भाग पर करना चाहिये। ध्यान के समय शिव मंत्र का जप मन से करना चाहिये।

जिसका दिव्य चक्षु खुल गया उसको ज्ञान और शक्ति से काम लेने का अधिकार प्राप्त हो गया। उसको सब स्थानों की घटनायें दिखलाई पड़ने लगती है। उसका मन धीरे–धीरे स्वयं एकाग्र हो जाता है। अपने और दूसरों के भविष्य का हाल मालूम हो सकता है। अपना जीवन बढ़ाया जा सकता है। देव दर्शन प्राप्त होते है और स्वास्थ्य ठीक रहता है।

सिद्धियाँ और उनका उपयोग

योग का अभ्यास करते समय तपस्या, संयम, ध्यान अहिंसा अचौर्य, मैत्री आदि की भावना आदि के फल से कर्मों के अल्पाधिक क्षम्योपशम होने पर कई अद्‌भुत शक्तियां अल्पाधिक अंशों में प्रकट होती है। यह कुछ तो ज्ञान संबंधी होती हैं, कुछ अद्‌भुत बुद्धि, स्मृति, अद्‌भुत इन्द्रिय शक्ति, देशकाल की सीमा के लिए भूत, भविष्य, वर्तमान काल के दूरस्थ और समीपस्थ पौत्तलिक पदार्थों को जानना तथा स्व और पर के पूर्व और आगामी जन्मों को जानना (अवधि ज्ञान) मनः पर्य अर्थात् दूसरों के मन में रहे हुए पदार्थों को जानना आदि, कुछ तप और संयम संबंधी होती हैं, यथा कठोर तप करने की शक्ति, शरीर को तनिक भी निर्बल किये बिना दीर्घ कालीन और अनेक उपवास कर सकना, जल, थल, आकाश में और वनस्पति आदि पर बिना किसी जीव को बाधा पहुंचाये विहार कर सकना आदि तथा कुछ शरीर संबंधी और अन्य तरह की होती हैं, यथा सर्वौषधि ऋद्धि (दृष्टि या वचन से या शरीर के स्पर्श से, या शरीर के मल या स्वेद से, अथवा शरीर स्पर्शी रज, पवन आदि से असाध्य रोग विष आदि का दूर हो जाना) बल वृद्धि (अपार शारीरिक, मानसिक और वाचनिक बल, बिना थके हुए एक मुहूर्त के भीतर समस्त शास्त्रों का चिन्तन या उच्चारण कर सकना) आदि, रस ऋद्धि (क्रुद्ध होने पर दृष्टि या वचन से दूसरे को विषाभिभूत् करके मार सकना, कर स्पर्श से नीरस आहार का भी स्वादिष्ट रस संयुक्त हो जाना अथवा वचन से ही दूसरों को अमृत भोजन किये जैसा तृप्त कर देना आदि) अक्षीण महान् सिद्धि (योगी को जिस पात्र से या जिस वस्तु का आहार दिया जाये वह अत्यल्प होने पर भी उससे या उसको चाहे जितने प्राणियों को खिला देने पर भी उस दिन के लिए उसका अक्षय होना) विक्रिया ऋद्धि जो दो तरह की होती है, पृथक (अपने ही शरीर के सिवा दूसरे शरीरादि बना सकना और अपृथक अपने ही शरीर के अनेक आकार रूप बना सकना और उसको अति भारी अति हलका, अति सूक्ष्म, सुमेरु से भी महान, अति दीर्घ, अति लघु आदि कर सकना, भूमि पर बैठे–बैठे मेरू

के शिखर को या सूर्य को छू सकना, अंतर्ध्यान हो सकना, पहाड़ में भी आकाश के समान गमनागमन कर सकना, थल में जल के समान और जल में थल समान संचार करना) ('कर सकना' सर्व वशीकरण) आदि। क्षेत्र ऋद्धि (योगी के जरा सा ठहरने का स्थान होने पर भी उसमें अपरिमित मनुष्यों का सुख से समा सकना) आहारक शरीर (तीर्थ दर्शन के लिये या संदेह के निवारणार्थ अति दूरस्थ उत्कृष्ट ज्ञानी केवली या श्रुत केवली के पास जाने के लिये मुनि के मस्तक से रसादि धातु रहित, एक हाथ प्रमाण, चन्द्रिका समान श्वेत शरीर निकलना), तीव्र शुभ परिणामों से उत्पन्न हुआ तैजस शरीर जो बारह योजन तक के प्रदेश में दुर्भिक्ष, महामारी आदि को दूर करता हैं, और तीव्र अशुभ रौद्र परिणामों से उत्पन्न हुआ अशुभ तैजस शरीर जो बारह योजन तक के प्रदेश के सर्व वनस्पति प्राणी आदि को भस्म कर देता है। विद्या–देवताओं या मंत्र देवताओं की कृपा से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

योगी की अद्‌भुत शक्तियां प्रकृति के नियमों के विरूद्ध नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ के अनंत गुण हैं परंतु साधारण मनुष्यों का ज्ञान अत्यल्प है।

योगी की विभूतियों में से बहुत सी आत्मज्ञानी योगी को ही प्राप्त होती हैं, और कुछ अज्ञानियों को भी तप संयम आदि से मिल जाती हैं, जो आत्मज्ञान से रहित हैं या मोह विमूढ़ हैं वे इनमें मोहित होकर तप से भ्रष्ट हो जाते हैं, और इन शक्तियों का सांसारिक अर्थों के लिए उपयोग करने लगते हैं जिसके फल स्वरूप वे आत्मोन्नति में बाधा डालकर आत्मा को पतित कर कर्म वन्ध से इन शक्तियों को ही नहीं खो देते हैं बल्कि नरकादि दुर्गतियों के अधिकारी हो जाते हैं और जन्म मरण के चक्कर में फंसे रहते हैं परंतु जो आत्मवेत्ता होते हैं, जिसको आत्मा की पूर्ण अनन्त शक्ति में श्रद्धा है वे इनको पराधीन, अपूर्ण, अस्थिर और पूर्ण आत्मशक्ति का एक किरणांशमात्र समझकर इनसे निरपेक्ष रहते हैं और आत्मा की पूर्णोपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

यद्यपि हमारे परमात्मदर्शी पूज्य महर्षि इन सिद्धियों को तुच्छ

समझकर उनका उपयोग नहीं करते थे फिर जब हम उन्हें प्राप्त न कर लें और कोरी डींग मारने लगें कि 'सिद्धियां विघ्न स्वरूप है' तो इससे हम में वह शक्ति व प्रतिष्ठा नहीं आ सकती जो हमारे पूर्वजों में थी। आजकल आप को ऐसे कितने ही नामधारी योगी मिलेंगे जिनसे यदि आप पूछें, महाराज! आप को कौन सी सिद्धि प्राप्त है तो वह चट से यह उत्तर देंगे कि सिद्धियां तो योग मार्ग में विघ्न हैं। मतलब यह कि वह उनसे कोरे हैं। परंतु फिर भी अपने आप को योगी ही कहते हैं। जो योग संबंधी कुछ भी ज्ञान रखते हैं (रखता होगा वह ऐसे लोगों को कभी योगी नहीं मानेगा (मान सकता है) योग मार्ग में सिद्धियाँ वैसे ही अनिवार्य हैं जैसे कि पढ़ने से ज्ञान का होना। किसी वस्तु के होने पर उसे त्याग देना महानता है। परंतु किसी वस्तु के प्राप्त न होने पर उसे खराब कह देना तो 'अंगूर खट्टे हैं' वाली मिसाल ही होगी।

सिद्धियों की सच्चाई को भारतवासी अति प्राचीन काल से मानते आये हैं। पातंजलि योग तथा बौद्धमत में योग उस भाग का जिसका संबंध सिद्धियों से हैं, क्या स्थान हैं? उसी बात का विचार संक्षेप रूप से नीचे किया गया है। योग सूत्र में दो जगह, अर्थात 'विभूतपाद' नामक तीसरे पाद के सैंतीसवें और पचासवें सूत्रों में सिद्धियों के गुण दोष का निरूपण किया गया है। सैंतीसवां सूत्र इस प्रकार है।

"ते समाधादुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः"

अर्थात् यह सिद्धियां समाधि में विघ्न रूप हैं और व्युत्थान (जाग्रत) अवस्था में सिद्धियां हैं। इस सूत्र के पूर्वार्ध में सिद्धियों की जो विघ्न रूप से हेयता बतलाई गई है उसके संबंध में यदि किसी को कुछ शंका हो तो उसका पचासवें सूत्र से निराकरण हो जाता है जो कि इस प्रकार हैं –

'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्'

अर्थात् इन सिद्धियों से भी वैराग्य कर लेने पर (मन हर लेने पर) दोषों का बीज नाश होकर कैवल्य (मुक्ति) की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सिद्ध योगी अपनी इन आलौकिक शक्तियों का

उपयोग करना तो दूर रहा। उनकी ओर आंख उठाकर देखेगा भी नहीं, क्योंकि वह इस बात को जानता है कि वे उसके लिये सहायक न होकर उल्टा उसके पतन के कारण हो सकती हैं, क्योंकि वह उन्हीं को परम लक्ष्य मानकर संतोष कर बैठता है।

परन्तु इस पर यह शंका होती है कि सिद्धियों की जो प्रशंसा की गई है, उसका क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि जो योगी नहीं हैं उन्हींने सिद्धियों की इस प्रकार प्रशंसा की हो। बल्कि इसका अर्थ यह है कि वे योगियों के लिये भी समाधि सिद्धि में उसके सिद्ध न होने तक किसी न किसी रूप में सहायक होती हैं। यहां पर अब यह प्रश्न उठता है कि तब फिर साधन मार्ग पर चलने वाले योगी को किस भूमिका पर पहुंचने पर ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विभूतिपाद में अंतिम सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार महर्षि व्यास जी सिद्धियों को समाधि से उत्पन्न हुई बतलाते हैं। निश्चय ही यह समाधि वह समाधि नहीं है। जिसका उल्लेख उपर्युक्त सूत्र (३/३७) में आया हैं, क्योंकि यदि ये सिद्धियां उसी समाधि से उत्पन्न होने वाली हों, जिसके मार्ग में वह विघ्न रूप हैं तो वे केवल उसका आनुसंगिक फल ही मानी जायेंगी जिसका परिणाम अशुभ के सिवा कभी शुभ नही हो सकता।

प्राचीन बौद्धयोग में जो कि पातंजलि योग से बहुत मिला जुलता हैं, भगवान बुद्धदेव ने जो कि महान योगी थे समाधि और सिद्धि दोनों का उपदेश दिया है। परंतु सिद्धियों का उल्लेख न तो उसके 'महाबोध' नामक ग्रंथ में और न उनके परिनिर्वाण प्रसंग में ही मिलता है। सिद्धियों के प्रति भगवान बुद्ध देव की आदर बुद्धि नहीं थी। हां यह बात अवश्य है कि वे अपने शिष्य महायोगानल को ऋद्धिसिद्ध प्राप्त पुरुषों में अग्रगण्य, अनिरुद्ध को दूर दृष्टि सम्पन्न पुरुषों में श्रेष्ठ एवं पन्थक को बहुकाया निर्माण में प्रमुख कहकर उनकी प्रशंसा किया करते थे, किंतु इसके साथ ही उन्होंने पिन्ड़ोल भरद्वाज की इसलिये बड़ी–कड़ी भर्त्सना की थी कि वह किसी गृहस्थ के कहने पर हवा में उड़ गया था। इसी वर्ग के ग्रंथों में इस प्रकार के आख्यान भी मिलते हैं कि भगवान बुद्धदेव के शिष्य मिलिन्दवच्छ ने महाराज बिम्बिसार के महल को सोने का कर

दिया था। प्रायः लोग बार–बार स्वयं उनसे अपने धर्म का विस्तार करने के लिए अपनी सिद्धियों का प्रयोग करने के लिए कहा करते थे परंतु वे सदा विरोध किया करते थे और यही कारण है कि उन्होंने अपने विनय नामक आचार ग्रंथ में भिक्षुओं को यह आज्ञा दी है कि वे गृहस्थों के सामने कभी अपनी सिद्धियों का प्रदर्शन न करें।

योगाभ्यास में प्रलोभन

मनुष्य केवल इसी लोक का ही नागरिक नहीं है बल्कि अनेक लोकों का है अतएव उसे इसी में नहीं तो दूसरे लोकों में भी संकरों और प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है। यही कारण है कि योगशास्त्र में इस बात पर विशेष जोर दिया है कि योगाभ्यास आरम्भ करने के पहिले साधक प्रथम अपने आप को शुद्ध कर ले, अपनी इन्द्रियों को वश में कर ले, अपनी इच्छाओं को त्याग दे और यम नियम का पूर्णरूप से पालन करने लगे तब मूलाधार में निद्रित कुण्डलिनी शक्ति को जगाने की चेष्टा करे। आसन, बंध, मुद्रा और प्राणायाम आदि के द्वारा चित्त को शुद्ध करने के पहिले ही यदि कुण्डलिनी जाग जाये तो अन्य लोगों के प्रलोभन उसके सामने आकर उपस्थित हो जाते हैं और उनका परिहार कर सकने की उसमें सामर्थ्य न होने के कारण उसका बहुत ही बुरा पतन होता है।

इसके अलावा साधक लोग योग की कुछ सीढ़ियों तक पहुँचकर वहीं रूक जाते हैं। स्वर्ग, गंधर्वलोक आदि उच्च लोकों के अधिवासी अनेक प्रकार से साधकों कों लुभाते हैं। वे साधक से कहते हैं कि हम तुम्हारे तप, वैराग्य और गुणों से बहुत ही प्रसन्न हुए हैं यह लोक जहाँ तुम अपने तपोबल से आये हो तुम्हारा विश्राम स्थान है, हम तुम्हारे दास है, जो आज्ञा करोगे हम उसी का पालन करेंगे। यह स्वर्ग का दिव्य रथ तुम्हारी सवारी के लिये हैं, यह अप्सरायें तुम्हारीं सेवा करेंगी, यह कल्पवृक्ष तुम्हारी सब इच्छायें पूरी करेगा। इस सुवर्ण पात्र में जो स्वर्ग का सोम रस है उसे तुम पान करो आदि।

देवों की इन मधुर लुभायमान बातों से असावधान योगी इस मिथ्यातुष्टि से ही संतुष्ट हो जाता है। वह समझता है कि हम योग की पराकाष्ठा तक पहुँच गयें हैं, अतएव वह इन प्रलोभनों में फँस कर अपने वास्तविक पथ से भ्रष्ट हो जाता हैं। ज्यों ही उसका पुण्य व योग बल समाप्त हो जाता है। त्यों ही उसे फिर इस मृत्यु लोक में ढकेल दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि योग साधन की जिस ऊंची सीढ़ी पर वह इतने अधिक कष्ट और साधना के बाद गिरने के पहले कहीं पहुंच पाया था कि फिर उस तक पहुँचने में उसको और भी अधिक समय व कठिनाइयाँ उठानी पड़ती है। इसी कारण ब्रह्मादि देवताओं ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा है कि :—

येन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्ष यानिनः सत्वयस्त भावाद् विशुद्ध बुद्धयः।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽ नाहाभुष्यदङघ्रयः।

अर्थात् 'हे कमल नयन! तुम्हारे प्रति भक्तिभाव अस्त होने के कारण जिन की बुद्धि अशुद्ध हो गई है, ऐसे मुक्ताभिमानी मनुष्य बड़ी कठिनता से परम पद तक चढ़कर भी नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि उन्होंने आपके चरणारविन्दों का आदर नहीं किया है।

पूर्ण विरक्त योगी जिसका विवेक सुदृढ़ हैं, वह देवताओं की इन मीठी–मीठी बातों का टका सा जबाव दे देता है और धीरता व दृढ़ता के साथ अपने अध्यात्म पथ पर आगे बढ़ता चला जाता है और जब तक योग साधन की अंतिम सीढ़ी या ज्ञान पर्वत के उच्चतम शिखर तक अर्थात् निर्विकल्प समाधि तक नहीं पहुंचता यानी परमात्म–मिलन के द्वारा परमानंद को नहीं पहुंच पाता उस वक्त तक कहीं भी नहीं रुकता, क्योंकि वह अच्छी तरह से समझता है कि स्वर्ग में भी भोग मायिक क्षणिक, और निःसार है। इस लोक के भोगों से उनका किंचित् भी अधिक मूल्य नहीं। उनके संबंध में भी ब्रह्मादि देवताओं ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा है।

तथा न वै माधव तावकाः क्वचिद्–भृश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्ध सौहृदाः।

तवाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकमपिमूर्द्धसु प्रभो।।

अर्थात् हे प्रभो! आपके जिन भक्तों का प्रेम आप में लगा हुआ है, वे उक्त प्रकार के मुक्ताभिमानी मनुष्यों की तरह अपने मार्ग से कभी भ्रष्ट नहीं होते, वे तो आप के द्वारा रक्षित होकर विघ्नकारियों के अधिपतियों के मस्तक पर (पैर रखकर) निर्भय विचरते हैं।

अष्ट महासिद्धियाँ

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वपार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजया

(पा.यो. ३/४४)

इस सूत्र में अणिमादि अष्ट महासिद्धियों का पूर्वरूप भूत जय का वर्णन है। ऋषियों और योगियों का कहना है कि 'भूतजय' होने पर अणिमादि सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है और काय सम्पत् प्राप्त होती है। उन महासिद्धियों के नाम इस प्रकार है।

(१) अणिमा (२) लघिमा (३) महिमा (४) प्राप्ति (५) प्राकाम्य (६) वशित्व (७) ईशित्व (८) यत्रकामावसायित्व व कुछ लोगों के मतानुसार नवी (६) गरिमा है।

(१) अणिमा :- अपने को अणु के समान सूक्ष्म बना लेना।

अत्यंत सूक्ष्मत्व, अणुशब्द का अर्थ है, सूक्ष्मत्व, आकाशी भाव। इस सूक्ष्मत्व की जो पराकाष्ठा है उसका नाम है अणिमा, जिससे परे सूक्ष्म वस्तु कोई हो ही नहीं सकती। स्थूल देह की अपेक्षा इन्द्रियाँ सूक्ष्म है। इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है ओर बुद्धि से भी सूक्ष्म आत्मा है। आत्मा ही सूक्ष्म की पराकाष्ठा है। अतएव अणिमा कहने से केवल परमात्मा ही लक्षित होता है। 'मैं' ही अणिमा हूं, परम सूक्ष्म मुझ में ही विद्यमान है, अभिन्न सत्ता मात्र स्वरूप 'मैं' ही परम सूक्ष्म वस्तु हूँ, इस तरह जो प्रत्यक्ष अनुभूति है, उसी का नाम अणिमाविभूति का प्रादुर्भाव है। शास्त्र पढ़ लेने या उपदेश सुनकर समझ लेने मात्र से यह विभूति रहस्य, साधन बिना, हृदयङ्गम करना असंभव है। आत्ममहत्व दर्शन का नाम विभूति है। अणिमादि रूप से आत्म सत्ता का अनुभव साधक का परम सौभाग्य सूचित करता है। यह मुक्ति की अति सन्निहित अवस्था

है। साधक यहाँ आकर जीवन धन्य करता है।

(२) **लघिमा** :- अपने शरीर को रूई के समान हल्का बना लेना। लघु शब्द का अर्थ है हल्का। पक्षी के रोम या रूई आदि हल्की वस्तु से इसका दृष्टान्त दिया जा सकता है। यह लघुत्व एक प्रकार का बोध मात्र है। यह जब पराकाष्ठा को प्राप्त होता है। अर्थात् जिससे लघु और कोई विषय हो ही नहीं सकता है, उसका नाम है लघिमा। यह लघिमा सत्तामात्र स्वरूप आत्मा में ही विद्यमान हैं। में ही लघिमा हूँ, परम लघुत्व मुझ में ही नित्य विराजमान है ऐसा जो प्रत्यक्ष अनुभव है उसी का नाम लघिमा विभूति है।

(३) **महिमा** :- अपने को पर्वत के सामन विशाल काय बना लेना। महत्व की जो पराकाष्ठा हे, जिनसे और महत् कुछ ही हो नहीं सकता, उसे महिमा कहते हैं। देश और काल महान वस्तु है, वह भी बुद्धि का महत्तत्व दृश्य ग्राह्यरूप से अवस्थित हैं– अतएव महत्तत्व देश काल की अपेक्षा भी महत्तर हैं फिर यह महत्तत्व स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा के ही प्रकाश से प्रकाशित है, आत्मा की सत्ता से ही सत्तावान् है, महत्तत्व से भी आत्मा महत्तम है। महिमा परमात्मा का ही अन्य नाम है। देश काल का जो महत्व अर्थात् व्यापकता है वह विजातीय भेदरूप से गृहीत होती है। बुद्धि का महत्व या महत्तत्व की व्यापकता स्वगत भेद रूप से गृहीत होती है। और अभिन्न सत्ता मात्र स्वरूप आत्मा का महतत्व सर्वभेदातीत रूप से नित्य विद्यमान है। आत्मा की सत्ता बिना महत्त्व भी सत्ता प्राप्त नहीं कर सकता, इस कारण परम महत्व ही महिमा है, मैं ही वह महिमा हूँ, परम महत्व मुझ में ही नित्य विराजता हैं, इस प्रकार जो प्रत्यक्ष आत्मानुभव है उसी को 'महिमा' विभूति का आविर्भाव कहा जाता है।

(४) **प्राप्ति** :- सर्वथा सब पदार्थों की प्राप्ति ही प्राप्ति नाम की विभूति है। सत्ता स्वरूप वस्तु हूँ, अतएव जहां जो कुछ 'है' रूप से प्रतीत होता हैं वह सभी आत्मा द्वारा (प्राप्त) सर्वथा प्राप्त है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव का नाम प्राप्ति है। मैं जब तक सत्ता स्फूर्ति प्रदान न करूं, तब तक कोई वस्तु ही सत्ता प्राप्त नहीं कर सकती, इस सत्य ज्ञान से वंचित

रहने के कारण ही साधारण मनुष्य सदा अनेक प्रकार के अभाव अभियोगों को प्रत्यक्ष करते रहते हैं। किन्तु भूतजयी योगी सर्वात्म दर्शन के फल से प्राप्ति नामक विभूति को पाकर धन्य होते और सब अभाव अभियोगों से ऊपर चले जाते हैं।

(५) **प्राकाम्य** :- सब प्रकार की इच्छाओं का पूर्ण हो जाना। प्राकाम्य शब्द का अर्थ है– इच्छा का अनभिघात भूत जयी योगी देखता है कि इच्छा एक मात्र परमेश्वर की है जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का अधीश्वर है, जो आत्मा है जो मैं रूप से प्रकाशित है वही इच्छारूपिणी महती शक्ति है। इस महती इच्छा सम्यक् अनुवर्तन अर्थात् ईश्वर प्रणिधान करने के फल से जीव भावीय इच्छा कहने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता (रहता) है इस अवस्था में पहुंचने पर योगी देख पाता है कि उसे प्राकाम्य सिद्धि प्राप्त हुई है। इस अवस्था में योगी के चित्त में जो इच्छा उदय होती है वह इस महती इच्छा से भिन्न न होने के कारण कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहती। छोटी–छोटी इच्छायें भी महती इच्छा में मिला दे सकने से साधक इस प्राकाम्य या इच्छा की अनविघात रूपा विभूति प्राप्त कर सकते हैं।

(६) **वशित्व** :- सब पर शासन करने तथा पंचमहाभूतों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति। भूत–भौतिकवश्यता ही इसका स्वरूप है। भूत या भौतिक रूप से जो कुछ भी प्रकाश हो रहा है वह सब आत्मा की मेरी सत्ता से सत्तावान् ओर मेरे प्रकाश से प्रकाशित है। मैं आश्रय या आधार हूं और वह सब आश्रित या आश्रेय है, ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त होना ही वशित्व नामक विभूति है।

(७) **ईशित्व** :- सृष्टि उत्पन्न करने की विधि स्थूल, सूक्ष्म, और कारण, ग्राह्य वस्तु मात्र को यह तीन तरह की अवस्थायें दिख पड़ती हैं। इन अवस्थाओं को ठीक–ठीक रूप से सुनिश्चित करने का जो सामर्थ्य है उसे ईशित्व कहते हैं। पूर्वोक्त वशित्व विभूति से ही इसका भी प्रकाश होता है। मैं ही तो सब स्थूल, सूक्ष्मादिकों का नियन्ता हूँ। 'मेरे मन से सूर्य उदय होते हैं, मेरे शासन से वायु प्रवाहित होती है, मेरे भय से अग्नि

ताप देती है। मैं इस विश्व ब्रह्मण्ड की स्थूल, सूक्ष्मादि सब वस्तुओं को भली–भांति नियमित रखता हूँ, ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव का नाम ईशित्व प्राप्ति हैं।

(८) **यत्रकामावसायित्व** :- कामनाओं का बिल्कुल अंत हो जाने का नाम 'यंत्र कामावसायित्व' है। इसको पूर्ण कामत्व भी कहा जाता है। 'पूर्णकामोस्मि संवृत्तः' मैं पूर्ण काम हुआ हूँ, अब मेरे देखने और पाने को कुछ भी बाकी नहीं हैं। मैंने अपने स्वरूप का पता पाया है। इसके बाद और ज्ञातव्य या प्राप्तव्य कुछ नहीं रहा (रह सकता) इस अनुभूति के उदय होने से समझा जा सकता हैं कि योगी 'यत्रकामावसायित्व' विभूति पाकर धन्य हुआ है। केवल आत्मज्ञान से सब कामनाओं का अंत हो जाता है। भूतजयी योगी अभिन्न सत्तामात्र स्वरूप आत्मा का पता पाने से इन आठों सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं।

(६) **गरिमा** :- अपने शरीर को लोहे के पर्वत जैसा भारी बना लेना।

विभिन्न सिद्धियाँ

योगाभ्यास करने वाले जिन साधकों को योग की विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उनमें से कुछ लोगों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है। लेकिन यहाँ यह बात बतला देना भी अत्यंत आवश्यक है कि बिना स्थूल देह का अभ्यास दूर किये अन्तर्जगत् में प्रवेश नहीं किया जाता। सूक्ष्मता प्राप्त करने पर ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अधिभौतिकता को विलीन करने और सूक्ष्म शरीर प्राप्त करने के लिये एक ऐसा साधन निश्चित किया गया है कि उस एक साधन ही से विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। सम्पूर्ण सिद्धियाँ जिस साधन से प्राप्त होती हैं उसका नाम 'संयम' है। जिस साधक ने पूर्ण रूप से संयम कर लिया उसने मानो सब सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं। धारणा ध्यान और समाधि इन तीन साधन क्रियाओं से जब साधक एक ही पदार्थ विशेष में युक्त हो जाता है तब साधक की उस अवस्था विशेष को 'संयम' कहते हैं। यह संयम

क्रिया सविकल्प समाधि में हुआ करती है। यही वह संयम शक्ति है जिसके द्वारा हमारे पूर्वजों ने शरीर विज्ञान, ज्योतिष व अन्य तरह–तरह के अलौकिक चमत्कारों का आविष्कार किया जाता था।

सिद्धियाँ

(१) धर्म, लक्षण और अवस्था तीनों परिणामों में संयम करने से भूत भविष्य का ज्ञान होता है।

(२) संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से साधक को पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। जैसे तस्वीर उतारने वाले मनुष्य, मूर्ति को कागज पर खींच देते हैं वैसे ही संस्कारों में संयम करने से संस्कार के कारण रूप कार्यो का योगी को यथावत् ज्ञान हो सकता है।

(३) शब्द, अर्थ, और ज्ञान के एक दूसरे में घनिष्ट मेल हैं, उनके विभागों में संयम करने से सब प्राणियों की वाणी का ज्ञान होता हैं।

(४) ज्ञान में संयम करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है।

किसी जीव विशेष के अन्त:करण का हाल जानना हो तो उसके ज्ञान की पर्यालोचना करके उसके मन का हाल जाना जाता हैं व सब हाल जान सकते हैं।

(५) कायागत रूप से संयम करने से उसकी ग्राह्य शक्ति का स्तम्भन हो जाता है और शक्ति का स्तम्भन होने से दूसरे के नेत्र के प्रकाश का योगी शरीर के साथ संयोग नहीं होता तब योगी के शरीर का अन्तर्ध्यान हो जाता हे। जैसे रूप विषयक संयम करने से योगी के शरीर के रूप को कोई नहीं देख सकता उसी प्रकार शब्दादि पाँचों के विषय में संयम करने से योगी के शरीर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को, पास में उपस्थित पुरुष भी नहीं जान सकता।

(६) जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है उस शीघ्र कार्यकारी अवस्था का नाम 'सोपक्रम' है जैसे जल से भीगे हुए कपड़े को निचोड़ देने से वह जल्दी सूख जाता हैं निरूपक्रम कर्म विपाक की मंदता के कारण विलम्ब से फलदायक कर्म की अवस्था का नाम 'निरूपक्रम' है।

जैसे बिना निचोड़ा कपड़ा देर से सूखता हें। इन दो प्रकार के कर्मों में जो योगी संयम करता हे उसको मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

(७) मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा आदि में संयम करने से तत्सम्बन्धी बल की प्राप्ति होती है। मैत्रीबल, करुणाबल, मुदिताबल और उपेक्षा बल की प्राप्ति करके योगी पूर्ण मनोबल अर्थात आत्मबल प्राप्त करता है। जो शक्ति अन्तःकरण को इन्द्रियों में न गिरने देकर नियमित रूप से आत्म स्वरूप की ओर खींचती रहती है उसी को आत्मबल या तेज कहते हैं।

(८) बल में संयम करने से योगी को हाथी के बलादि प्राप्त हो सकते हैं। बल दो प्रकार के होते हैं, एक आत्मबल और दूसरा शारीरिक बल प्रकृति विभिन्न होने से बल में स्वतंत्रता है। जैसे हाथी शेर खेचर व पक्षियों का ओर जलचरों का बल जिस प्रकार के बल की आवश्यकता हो उसी प्रकार के बलशाली जीवों के बल में संयम करने से उसी तरह के बल की प्राप्ति होती हैं।

(९) ज्योतिष्मति प्रकृति के प्रकाश को सूक्ष्मादि वस्तुओं में न्यस्त करके उन पर संयम करने से योगी को सूक्ष्म, गुप्त और दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान होता है। लययोगी और अन्तर्राज्य में शरीर के द्विदल स्थान में शुद्ध तेज पूर्ण बिन्दु का दर्शन करता है। वह ज्योतिष्मति प्रवृत्ति बिन्दु रूप से आविर्भूत होकर जब स्थिर होने लगती है तब वहीं बिन्दु ध्यान की अवस्था है। उसी बिन्दु के विस्तार से योगी संयम शक्ति की सहायता और ज्योतिष्मति प्रकृति की सहयोगिता से अनेक गुप्त विषय और जलमग्न या पृथ्वी गर्भस्थित समस्त द्रव्य समूह के देखने में समर्थ हो सकता है।

(१०) सूर्य नारायण में संयम करने से योगी को यथाक्रम सूक्ष्म और स्थूल लोकों का ज्ञान हो जाता है। स्थूल लोक प्रधानता यही मृत्यु लोक हैं, सात स्वर्ग तथा सप्त पाताल यह सूक्ष्म लोक कहलाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्मण्डों का ज्ञान लाभ करना भी सूक्ष्म लोक से सम्बन्ध युक्त ज्ञान है।

(११) चन्द्रमा में संयम करने से नक्षत्र व्यूह का ज्ञान होता है। ज्योतिष् का सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सब में चन्द्र एक राशि पर सबसे बहुत ही कम समय तक रहता है। इसके प्रत्येक तारा व्यूह रूपी राशि की आकर्षण विकर्षण शक्ति के साथ चंद्रमा का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उसी शक्ति के अवलम्बन से नक्षत्रों का पता लगाने में चन्द्र की सहायता सुविधाजनक हैं।

(१२) ध्रुव में संयम करने से ताराओं की गति का पूर्ण ज्ञान होता है।

(१३) नाभि चक्र में संयम करने पर योगी को शरीर के समुदाय का ज्ञान होता है। शरीर के सात स्थानों में सात चक्र है, उनमें छः चक्रों में साधन करके सिद्धि प्राप्त करने पर या होने पर सातवें चक्र में पहुंचने पर मुक्ति प्राप्त होती है। षट्चक्रों में नाभि के पास जो तीसरा चक्र है। उसमें संयम करने से शरीर में किस प्रकार का पदार्थ किस प्रकार से है, वात, पित्त और कफ यह तीन दोष किस प्रकार से हैं, चर्म, रुधिर, मांस, हाड़, चर्बी, वीर्य और नख यह सात वस्तुएं किस रीति सेहैं, नाड़ी आदि कैसी कैसी हैं इन सब का ज्ञान हो जाता है।

(१४) कंठ के कूप में संयम करने से भूख और प्यास निवृत्त हो जाता है। मुख के भीतर उदर में वायु और आहारादि जाने के लिए जो कंठ छिद्र हैं उसी को कंठ कूप कहते हैं। यहीं पर पांचवा चक्र स्थित है इसी से क्षुत्पिपासा की क्रिया का घनिष्ठ संबंध है।

(१५) 'कर्म' नाड़ी में संयम करने से स्थिरता होती है। पूर्वोक्त कंठ कूप में कच्छप आकृति की एक नाड़ी है। उसको कूर्म नाड़ी कहते हैं। उस नाड़ी से शरीर की गति का विशेष संबंध है। इसी से वहां संयम करने पर शरीर स्थिरता को प्राप्त होता है। योगी का मन इस नाड़ी में प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चंचलता को छोड़ देता है।

(१६) कपाल की ज्योति में संयम करने से योगी को सिद्ध गणों के दर्शन होते हैं। मस्तक के भीत कपाल के नीचे एक छिद्र है उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरन्ध्र में मन को ले जाने से एक ज्योति प्रकाश

नजर आता है, उसमें संयम करने से योगी को सिद्ध महात्माओं के दर्शन होते हैं, जीवकोटि से उपराम होकर दृष्टि के कल्याणार्थ ऐसी शक्तियों को धारण करके एक लोक से लोकान्तर में विचरण करने वालों को ही सिद्ध या महात्मा कहा जाता है जो चतुर्दश भुवनों में ही विराजते हैं।

(१७) 'प्रातिम' संयम करने से योगी को सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। साधन करते–करते योगियों को एक तेजोमय तारा, ध्यानावस्था में दिखलाई पड़ता है। उसी का नाम 'प्रातिम' है। चंचल बुद्धि वाले मनुष्य उस तारा का दर्शन नहीं कर सकते। योगी की बुद्धि जब शुद्ध होकर स्थिर होने लगती है तभी उस भाग्यवान् योगी को प्रातिम के दर्शन होते हैं। इसी प्रातिम को स्थिर कर उसमें संयम करने से योगी ज्ञान राज्य की सब सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है।

(१८) हृदय में संयम करने से योगी को चित्त का ज्ञान होता है। चतुर्थ चक्र का नाम हृत्कमल है। इससे अन्तःकरण का एक विलक्षण संबंध है। चित्त में नये पुराने सभी प्रकार के संस्कार रहते हैं, चित्त के नचाने से ही मन नाचता है। चित्त का पूर्ण स्वरूप महामाया की माया से जीव पर प्रकट नहीं होता है। जब योगी हृत्कमल में संयम करता है तब वह अपने चित्त पूर्ण का ज्ञाता बन जाता है।

(१९) बुद्धि पुरुष से अत्यंत पृथक है। इन दोनों के अभिन्न ज्ञान से भोग की उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है। उससे भिन्न स्वार्थ है उसमें अर्थात् अहंकार शून्य चित्त प्रतिबिम्ब में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है बुद्धि पुरुष का जो परस्पर प्रतिबिम्ब–संबंध से अभेद ज्ञान है वही पुरुष निष्ठ योगी कहलाता है। बुद्धि दृश्य होने से उसका पर भोग रूप प्रत्यय पदार्थ यानी पुरुष के लिये ही है। इस पदार्थ से अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय हैं यानि जो बुद्धि प्रतिबिम्बित चित्त सत्ता को अवलम्बन करके चिन्मात्र रूप है उसमें संयम करने से योगी को नित्य, शुद्ध, बुद्ध युक्त स्वभाव पुरुष का ज्ञान हो जाता है। बुद्धि के मलिनभाव से रहित शुद्धभाव भय, जब अहंकार से शून्य, आत्मज्ञान से भरी हुई जो चिद्भाव की दशा है, उसी को जानकार उसमें जब योगी संयम करता है तब

उसको पुरुष के स्वरूप का बोध हो जाता है। इस परा सिद्धि के प्राप्त होने पर योगी को 'प्रातिम' श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता, नामक षट्सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है।

'षट् सिद्धियों का फल'

'प्रातिम सिद्धि' से योगी को अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। 'श्रावण सिद्धि' से योगी को दिव्य श्रावण ज्ञान की पूर्णता अर्थात् प्रणवध्वनि का अनुभव होता है। 'वेदन सिद्धि' से योगी को दिव्य स्पर्शज्ञान की पूर्णता होती है। 'आदर्श–सिद्धि' से दिव्य दर्शन की पूर्णता 'आस्वादसिद्धि' में दिव्य रसज्ञान की पूर्णता स्वतः प्राप्त हो जाती है। यह सब समाधि में विघ्नकारक है परन्तु व्युत्थान दशा के लिये सिद्धियाँ हैं।

(२०) बन्धन का जो कारण है उसके शिथिल हो जाने से और संयम द्वारा चित्त को प्रवेश निर्गम मार्ग नाड़ी के ज्ञान से चित्त दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है। चंचलता को प्राप्ति हुए, अस्थिर मन का शरीर में द्वन्द तथा आसक्ति जन्य बन्धन है, समाधि प्राप्ति से क्रमशः स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का यह बन्धन शिथिल हो जाता है। संयम की सहायता से चित्त के गमनागमन मार्गीय नाड़ी ज्ञान से स्वतः सूक्ष्म शरीर को कहीं पहुंचा देने का नाम प्रवेश क्रिया है। और पुनः उस सूक्ष्म शरीर को ले आने का नाम निर्गम क्रिया है। इन दोनों का जब योगी को बोध हो जाता है तब योगी जब चाहे तब अपने शरीर से निकलकर दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है।

(२१) उदान वायु के जीतने से जल, कीचड़ और कंटक आदि पदार्थ का योगी को स्पर्श नहीं होता ओर मृत्यु भी वशीभूत हो जाती है। ऊर्ध्वगमनकारी कंठ से लेकर सिर तक व्यापक जो वायु है वही 'उदान वायु कहलाता है। वह ऊर्ध्वगमनकारी होने से उसमें संयम करने वाले योगी का शरीर जल, पंङ्क और कंटक आदि से नष्ट नहीं होता। उदानवायु से सब स्नायुओं की क्रियायें नियमित रहती है। मस्तिष्क का

स्वास्थ्य ठीक रहकर चेतन की क्रिया बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उदानवायु से सब स्नायुओं की क्रियायें नियमित रहती हैं। इसके अतिरिक्त उदानवायु से प्राणमय कोष सहित 'सूक्ष्म शरीर' पर आधिपत्य बना रहता है। अतएव उदानवायु के जय से योगी इच्छानुसार शरीर के प्राणों तक ...., इच्छा मृत्यु को प्राप्त कर सकता है। जैसे भीष्म पितामह ने उत्तरायण सूर्य आ जाने पर ही शरीर का त्याग किया था।

(२२) समान वायु को वश में करने से योगी का शरीर ज्योतिर्मय हो जाता है। नाभि के चारों ओर दूर तक व्यापक रहकर समता को प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी क्रिया को साम्यावस्था में रखता है उस वायु को समान वायु कहते हैं। इस शरीर की समानता का इस वायु से प्रधान संबंध है। शारीरिक तेज शक्ति ही जीवनी क्रिया को साम्यावस्था में रखती है। इसीलिये समानवायु के संयम से जीत लेने से योगी तेज 'पुञ्ज हो जाता है।

(२३) कर्म इन्द्रिय और आकाश के आश्रयाश्रयिरूप संबंध में संयम करने से योगी दिव्य श्रवण को प्राप्त होता है। समस्त श्रोत्र और शब्दों के आधार आकाश है। जब तक कान के साथ आकाश का संबंध रखा जाता है तब तक शब्द सुनाई पड़ते हैं। अन्यथा नहीं। इसमें कान और आकाश का आश्रयाश्रयिरूप संबंध हैं उसमें संयम करने से योगी सूक्ष्म से सूक्ष्म छिपे हुए से अति छिपे हुए, दूरवर्ती से दूरवर्ती और नाना प्रकार के दिव्य शब्दों को श्रवण कर सकता है।

(२४) शरीर और आकाश के संबंध में संयम करने से और लघु अर्थात हल्की रूई जैसे पदार्थ की धारणा से आकाश में गमन हो सकता है। आकाश और शरीर का व्यापक और व्याप्य रूप से संबंध है। आकाश सब भूतों से हल्का और सर्वव्यापी है, इसलिये जब योगी आकाश और शरीर के सबंध में संयम करता है और उस समय लघुता के विचार से रुई आदि हल्के पदार्थों की धारणा भी करता है, तब इस क्रिया से उसमें हल्केपन की सिद्धि हो जाती है।

(२५) शरीर के बाहर मन की जो स्वाभाविक वृत्ति है उसका नाम

'महाविदेहधारणा' है, उसके द्वारा प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है। स्थूल शरीर से बाहर शरीर के आश्रयी की अपेक्षा न रखने वाली जो मन की वृत्ति है उसे 'महाविदेह' कहते है उसी से ही अहंकार का वेग दूर होता है। उस वृत्ति में जो योगी संयम करता है उससे प्रकाश का ढ़कना दूर हो जाता है। जब तक शरीर का अहंकार रहता है तब तक मन की ब्रह्य वृत्ति रहती है, परन्तु जब शारीरिक अहंकार को त्यागकर स्वतंत्र भाव से मन की वृत्ति बाहर रहती है तभी योगी का अन्तःकरण मलरहित और निःसंग रहता है। शरीर से लगी हुई मन की जो ब्रह्य वृत्ति है उसका नाम 'कल्पिता' है। परन्तु शरीर की अपेक्षा न रखकर देहाध्यास से रहित जो मन की स्वाभाविकी और निराश्रयी बाहरी वृत्ति है वही अकल्पित है। कल्पिता को छोड़कर अकल्पिता जो महाविदेह वृत्ति का साधन किया जाता है, उसके सिद्ध होने पर प्रकाश स्वरूप वृद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। तब अहंकार से उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मफल, इनके संबंध से साधक मुक्त हो जाता है। तथा रज, तम का आवरण हट जाता है। जिससे योगी अपने अन्तःकरण को यथेच्छ ले जाने की सिद्धि को प्राप्त करता है।

(२६) 'पंचतत्वों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थतत्व यह पांच अवस्था विशेष है। इनमें संयम करने से भूतों पर जय लाभ होता है। भूतों की 'स्थूल अवस्था' वह है जो दृष्टि गोचर हुआ करती है। 'स्वरूपावस्था' वह है, जो स्थूल में गुण रूप से अदृष्ट हो जैसे तेज में उष्णता है। 'सूक्ष्मावस्था' तन्मात्राओं की है। 'अन्वयावस्था' व्यापक सत्व, रज, तमोगण की है और पंचम 'अर्थवत्त्वावस्था' फलदायक होती है। जब योगी पंच भूतों की इन अवस्थाओं में संयम द्वारा उनको जय कर लेता है तब प्रकृति अपने आप उसके अनुकूल हो जाती है। या अधीन हो जाती है। जैसे गौ अपने आप ही अपने बच्चे को दूध पिलाती रहती है वैसे ही पंचभूत के लय से प्रकृति वशीभूत हो जायें पर वह प्रकृति माता अपने आप ही उस योगी की सेवा में तत्पर हो जाती है।

(२७) ग्रहण स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थतत्व नाम इन्द्रियों की पांच वृत्तियों में संयम करने से इन्द्रियों का जय होता है। सामान्य

और विशेष रूप से शब्दादि जितने विषय हैं वे सब बाहरी विषय ग्राह्म कहलाते हैं। उन ग्रहण करने योग्य विषयों में जो इन्द्रियों की वृत्ति जाती है उस वृत्ति को 'ग्रहण' कहते हैं। किसी रीति से जब बिना विचारे विषय जब अकस्मात् ग्रहीत हो जाते हैं, तब मन का उसमें प्रथम विचार ही, 'स्वरूप वृत्ति' है। उस अवस्था में जो अहंकार का विषय रहता है। वह अहंकार मिश्रित भाव ही 'अस्मिता वृत्ति' कहा जाता है। फिर बुद्धि द्वारा उस स्वरूप के विचार को यानी जब बुद्धि सत्यासत्य समान और विशेष का विचार करने लगती है तब उस वृत्ति को 'अन्वय' कहते हैं। नाना विषयों को प्रकाश करने वाली स्थितशील, अहंकार के साथ सब इन्द्रियों में व्याप्त हुई जो वृत्ति है वही पंचम 'अर्थतत्त्व वृत्ति' कहलाती है। इन इन्द्रियों की पांचों वृत्तियों में संयम करके इन को अपने अधीन कर लेने से इन्द्रिय गण का पूर्ण जय होता है।

इन्द्रिय जय का फल

इन्द्रिय जय के अंतर्गत मनोजयित्व, विकरणभाव और प्रधान जय की सिद्धियाँ योगी को स्वतः प्राप्त होती जाती हैं। मन की गति के समान शरीर की उत्तम गति की प्राप्ति को 'मनोजयित्व' कहते हैं, अर्थात मन की तरह शीघ्र ही अनेक योजन व्यवहित देश में गमन करने की शरीर में सामर्थ्य होने का नाम 'मनोजयित्व' है। शरीर के संबंध को त्यागकर जो इन्द्रियों की वृत्ति को प्राप्त करना है उसे 'विकरणभाव' कहते हैं अर्थात् जिस देश या काल या विषयों में अभिलाषा हो, शरीर के बिना ही चक्षुरादि इन्द्रियों से गति प्राप्त होने का नाम 'विकरणभाव' है। प्रकृति के विकारों के मूल कारण को जय करने का नाम 'प्रधान जयत्व' है जिससे सर्व वशित्व प्राप्त होता है। यह सिद्धियाँ स्वतः मिलती हैं।

(२८) बुद्धि और पुरुष में पार्थक्य ज्ञान सम्पन्न योगी को सर्वभावाधिष्ठा तत्त्व और सर्व ज्ञातृत्व प्राप्त होता है। जब अन्तःकरण की ऐसी निर्मल अवस्था होती है तब अपने आप परमात्मा का शुद्ध प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है, जिससे योगी को बुद्धिरूप दृश्य और पुरुष रूप दृष्टा में जो तात्विक भेद है वह स्पष्ट होने लगता है, और ऐसी

परिस्थिति में योगी अखिल भावों का स्वामी और सकल विषयों का ज्ञाता बन जाता है।

(२६) जितने काल में एक परमाणु पल्टा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अविच्छिन्न प्रवाह को क्रम कहते हैं। उसमें संयम करने से विवेक यानी अनुभव सिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। भौतिक पदार्थ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग को 'परमाणु' कहते है। जिस काल से कम भाग में काल विभक्त न हो सके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल भाग को 'क्षण' कहते हैं। उन परमाणुओं की गति अर्थात् प्रवाह का जो रूप है उसको 'क्रम' कहते हैं। क्रम क्षण से भी जाना जाता है। भूत क्षण का परिणाम वर्तमान क्षण है। वर्तमान क्षण का परिणाम भविष्यत क्षण होगा। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि क्रिया एक ही क्षण का परिणाम है। इस योग बुद्धि से क्षण और क्रम में संयम करके उनका साक्षात् ज्ञान लाभ करने से अभ्रांत और पूर्णज्ञान की प्राप्ति होती है। तब योगी जिस विषय को देखता है उसका यथार्थ पूर्णरूप ही देख लेता है वही योगी की त्रिकाल दर्शी अवस्था है।

(३०) 'परासिद्धि' उपर्युक्त अपरा सिद्धियों की प्राप्ति के अनन्तर योगी को विवेकाख्यातिजनित कारण दोषों के बीज नाश हो जाने पर 'कैवल्यप्राप्ति' होती है। सिद्धियाँ दो प्रकार की है। एक पर और अन्य अपरा। विषय संवर्धनीय सब प्रकार की उत्तम, मध्यम और अधम सिद्धियाँ, 'अपरासिद्धि' कहलाती हैं। यह सिद्धियाँ मुमुक्ष योगी के लिये हेय हैं। इनके सिवा जो स्वस्वरूप अनुभव के उपयोगी सिद्धियां है वह योगिराज के लिए उपादेय परा सिद्धियाँ हैं।

साधना

किसी साध्य वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया जाता है उसी को साधना कहते हैं। संसार में सभी जीव सुख और आनन्द की इच्छा करते हैं। सुख और आनन्द ही सबका साध्य है। सुख और आनन्द भी वह जो सबसे बढ़कर जिसमें जरा सी न्यूनता न हो, जो चिरस्थायी हो,

कभी कम न होकर बढ़ता ही रहे सारांश वह कि जो अनन्त, असीम, नित्य और पूर्ण हो। परन्तु ऐसा सुख और आनन्द इस परिवर्तनशील ओर विनाशी संसार की किसी वस्तु में भला कैसे हो सकता है। यहां अनन्त, असीम, अखंड नित्य और पूर्ण तो कुछ भी नहीं है। नित्य, सत्य, सनातन, सम, एकरस, अनंत, असीम, अखंड और पूर्ण तो केवल एक मात्र तो भगवान ही है। अतएव वही पूर्ण सुख व आनन्द रूप है और वही सब के वास्तविक साध्य हैं। मनुष्य अज्ञानता व अनुभवहीनता के कारण इस बात को भले ही न समझे या अनुभव न करे परन्तु वह वास्तव में चाहता है, पूर्ण ही को अर्थात् 'भगवान' के अतिरिक्त, संसार में उसको कहीं भी पूर्णता, शान्ति सुख व आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता वह बड़े से बड़ा सम्राट् व इन्द्र बन जाने पर भी किसी न किसी चीज का अभाव या अपूर्णता को ही अनुभव करता है। उसके हृदय में सदैव कोई न कोई कमी खटकती ही रहती है। अतएव वह प्रत्येक स्थिति में हमेशा अतृप्त, असंतुष्ट और चिंतित रहता है व दूसरी स्थिति का इच्छुक रहने के कारण उसी की खोज में रहता है। परन्तु वह मोह व माया के वश में रहने के कारण भगवान की ओर न जाकर दुख और अतृप्ति उत्पन्न करने वाले, अभावपूर्ण विषयों में ही सुख मानकर उन्हीं की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। यही कारण है कि वह वास्तविक सुख व आनन्द से वंचित रहता है वह करता है सुख की साधना पर मिलता है उसे दुःख, असफलता, अशान्ति और अतृप्ति। अतएव सांसारिक वस्तुओं के निमित्त किये जाने वाला प्रयत्न यथार्थ में साधना नहीं बल्कि साधना शब्द की वास्तविक सार्थकता है परमानंद स्वरूप भगवान की आराधना। इसलिये पहले निश्चय करो कि हमारे साध्य है भगवान और साधना है भगवान की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले हमारे प्रयत्न।

साधना दो प्रकार की होती है

(१) दैवी (२) आसुरी। इनको शास्त्रों में दक्षिण और वाम मार्ग भी कहते हैं। दक्षिण मार्ग में विधि ठीक न होने के कारण लाभ भले ही न हो परन्तु हानि होने का भय नहीं रहता लेकिन वाम मार्ग में लाभ न होने

के अलावा हानि होने की बहुत संभावना रहती है। हां यह बात अवश्य है कि दक्षिण मार्ग में लाभ उसी समय नहीं मालूम पड़ता व धीरे–धीरे होता है परन्तु वाम मार्ग की साधना में लाभ हानि तत्काल होती है। दोनों में ही अक्रोध, शौच और ब्रह्मचर्य आदि का पालन आवश्यक है। इसका पालन न करने पर वाम मार्ग में बहुत हानि हो जाती है। कभी–कभी तो प्राणों पर बीतती है। जरा चूके कि बलिदान होने में देर नहीं लगती। इस प्रकार की घटनायें हम लोग प्रायः सुनते है, कि अमुक देवता की साधना में अमुक डर गया,अमुक पागल हो गया ओर अमुक मर गया है।

जैसे देवता होते हैं वैसी ही उनकी साधना करनी पड़ती है। उग्र देवता की साधना उग्र फल के लिये बहुत बार अपने प्राणों की बाजी लगानी पड़ती है। और मंदिर, नदी, पर्वत, श्मशान आदि स्थानों में तथा किसी महापर्व, ग्रहण, अर्द्धरात्रि, कालरात्रि, दिवाली, दशहरा आदि की सप्तमी, अष्टमी व नवमी आदि के दिनों में साधना करनी पड़ती है।

यह बात अवश्य है कि किसी भी साधना के बिना कोई पुरुष महान् नहीं बन सकता। हमारे कितने ही ऋषि मुनियों व महान् पुरुषों के पास एक न एक सिद्धि अवश्य ऐसी थी जिसके कारण ही वे महान् पुरुष हुए। इसलिये हमें भी ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिये। लेकिन किसी उग्र और आसुरी व स्वार्थ पूर्ण साधना की अपेक्षा दैवी पारमार्थिक साधना करना ही अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि वाम मार्गी साधना का फल क्षणिक होता है परन्तु दक्षिण मार्ग का फल चिर स्थायी, सुख और शांतिदायक होता है।

जगद्‌गुरु भगवान शंकराचार्य ने 'साधना पंचक' नामक एक ग्रन्थ रचा हे। उसमें उन्होंने सब प्रकार की साधनाओं का वर्णन कुशलता से किया है। विस्तार भय से हम उन श्लोकों को न लिखकर यहां केवल उनका अर्थ ही लिख रहे हैं।

(१) नित्य वेदाध्ययन करो, सम्यक् प्रकार के वेदोक्त कर्मो का आचरण करो, उस कर्माचरण से भगवान की पूजा करो और काम्य कर्मो की वासना छोड़ दो सब प्रकार के पाप पुञ्जों का नाश कर दो,

सांसारिक सुखों को दोष दृष्टि से देखो, परमात्मा की इच्छा का अनुसरण करो, और शीघ्र ही अपने घर बार को छोड़ दो।

(२) सत्पुरुषों का संग करो भगवान में सुदृढ़ अनुराग रखो शम दमादि का पूर्ण पालन करो, काम्य कर्मों को छोड़ दो तथा सच्चे संतों के समीप जाकर नित्य उनके चरणों की सेवा करो, ओर उन के एकाक्षर ब्रह्म प्रणव का अर्थ कराओं तथा वेदान्त वाक्यों का श्रवण करो।

(३) उन वेदान्त वाक्यों के अर्थ का विचार करो, औपनिषद सिद्धान्तों का आश्रय लो, कुतर्क से दूर रहो, श्रुति सम्मत युक्तियों का अनुसंधान करो, मैं ब्रह्म हूं ऐसी भावना करो, अभिमान को नित्य प्रति छोड़ते जाओ, देह में से अहं बुद्धि निकाल दो और बोधवानों के साथ वाद–विवाद करना छोड़ दो।

(४) भूख को व्याधि समझकर उसके लिए प्रतिदिन भिक्षारूप औषधि का सेवन करो, स्वादिष्ट अन्न मत मांगो दैवयोग से जो कुछ मिल जाए उसी पर संतुष्ट रहो, सर्दी गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहन करो, वृथा मत बोलो, उदासीनता की प्रवृत्ति रखो तथा अन्य लोगों के प्रति कृपा और कठोरता को छोड़ दो।

(५) एकान्त में शान्ति से बैठो और ब्रह्म में चित्त को लीन करो। सर्वत्र पूर्ण ब्रह्म का अनुभव करो और इस जगत् को उसके द्वारा बाधित देखो। पूर्व सिंचित कर्मों का चिदात्मा के आश्रय से बांध कर दो, भावी कर्मों से असंग रहो तथा प्रारब्ध का इसी जन्म में भोग कर लो (इसी प्रकार कर्म बंधन से छूटकर) फिर परब्रह्म रूप से स्थित हो जाओ।

उपर्युक्त पांच श्लोकों में जगद्गुरु ने जिस साधना पद्धति का वर्णन किया है वह विशेषकर विरक्ताश्रमियों के लिये है तथापि उनमें जिन, शम, दम, तितिक्षा, समाधान व वैराग्यादि के अभ्यास पर जोर दिया गया है वे तो सभी कल्याण कामियों के लिए परमावश्यक है अतएव इन उपदेशों से सभी श्रेणी और आश्रमों के साधक लाभ उठा सकते हैं।

साधक और साधना

जन्म–जन्म के सत्संस्कार जब अभिव्यक्त होकर इस अवस्था को प्राप्त होते है कि उन पर आकर्षण के रूप में भगवत्कृपा का प्रभाव पड़ सके, तब मनुष्य के अन्तःकरण में यह लालसा उत्पन्न होती है कि मुझे अपने परम लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त करने के लिये साधना करनी चाहिये। सत्संग, सद्विचार सच्छास्त्र के आधार पर इस अभिलाषा को उदीप्त करना चाहिये। कहीं असत्कर्मों के संस्कार द्वारा इस विचार को दबा न ले इसलिये हमें सम्पूर्ण शक्ति साधना में लगा देनी चाहिये।

ऐसे अवसर पर कितने ही साधक किसी भी साधन की प्रशंसा सुनकर उसे करने लगते हैं परन्तु उस पर दृढ़ विश्वास न होने के कारण जब वे कहीं दूसरे साधन की प्रशंसा सुनते हैं तो पहली को छोड़कर दूसरी करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि पहले किये कराये पर पानी फिर जाता है और साधक फिर आरम्भ–अवस्था में पहुंच जाता है। यह केवल विडम्बना मात्र है। साधन के लिये ऐसे विश्वास की आवश्यकता है जो आकाश के समान विशाल समुद्र के समान गंभीर और सुमेरु पर्वत के समान दृढ़, अचल और कठोर हो।

साधना पर ऐसा विश्वास–सद्गुरु की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। गुरुदेव के नाम श्रवण, दर्शन स्मरण मात्र ही से हृदय में अंधकार के स्थान पर प्रकाश, अशान्ति के स्थान पर शान्ति, और अविश्वास के स्थान पर विश्वास उत्पन्न होकर परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है। गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है।

मंत्रदान के समय अथवा उसके पश्चात् जो गुरु की मनुष्य के रूप में प्रतीति होती है, यह तो शिष्य की एक कल्पना है। वास्तव में परमात्मा ही गुरु की शरण और उनकी छत्रछाया में शिष्य धन्य–धन्य हो जाता है।

जो आदिनाथ महाकाल अर्थात् भगवान शिव हैं। वही शैव, शक्ति व वैष्णवादि सभी मंत्रों के एक मात्र गुरु हैं उनके अतिरिक्त और कोई

मंत्रदाता हो ही नहीं सकता।

अब प्रश्न उठता है ऐसे–गुरु की प्राप्ति कैसे हो, और उनको पहचाना कैसे जाय? आजकल नाना रूपधारी कितने ही लोग ऐसे मिलेंगे जो तरह–तरह की बातें बनाकर आडम्बर दिखलाकर व तरह–तरह की क्रियायें और चमत्कार तथा ऋद्धियों–सिद्धियों का अपने आप को ज्ञान बतलाकर भोले–भाले श्रद्धालु लोगों को ठगते–फिरते हैं।

भगवान ही गुरु और गुरु ही भगवान होतेहैं, यह केवल भाव ही नहीं हे, क्योंकि परमार्थ सत्य वस्तु को उनके सिवाय और कौन दिखा सकता है। इसीलिये बहुतकाल तक बल्कि कई जन्मों तक भटकने के बाद जब कहीं अन्तःकरण शुद्ध होकर उनके दर्शन करने के योग्य हो पाता है तब कहीं सद्गुरु के दर्शन प्राप्त होते हैं। साधक को सत्य स्वरूप का ज्ञान कराकर स्वपद पर पहुंचाने वाले गुरु ही हैं। शिष्य गुरु का उत्तराधिकारी होता है अर्थात् गुरु का ज्ञान ही शिष्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। ज्ञान की दृष्टि से परमात्मा, गुरु व शिष्य एक ही हैं। गुरु के बिना शेष दो की प्राप्ति असंभव है। इस एकत्व बोध में ही शिष्य की पूर्णता है। तभी तो शास्त्र के यह वाक्य सार्थक हो सकते हैं। कि 'गुरुःसाक्षात् पर ब्रह्म' इसी दशा में शिष्य उनको पकड़ नहीं सकता बल्कि वह स्वयं ही उत्तराधिकारी शिष्य के सम्मुख प्रकट हो जाते हैं। शिष्य अधिकार हीन होने पर भी यदि सद्गुरु की शरण में पहुंच जाय तो वह उसे अपनी शक्ति के बल से अधिकारी बना लेते हैं और जिस तरह पारस लोहे के स्पर्श मात्र ही से स्वर्ण बना देता है, उसी तरह यह शिष्य का भी उद्धार कर देते हैं। अतएव जिस किसी के भी हृदय में भगवद् प्राप्ति की अभिलाषा हो और जो वास्तव में साधना करना चाहता हो उसके लिए श्री गुरुदेव की शरण में जाना सबसे प्रथम व मुख्य कर्तव्य है। महात्मा कबीर कहते हैं।

गुरु गोविंद दोनों, खड़े, काके लाँगू पांय।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविंद दिये लखाय।।

गुरु के बिना कोई ज्ञान पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सकता। गुरु

की महिमा महान है। भगवान ने स्वयं अपने आप से भी गुरु की महानता दी है। गुरु के आशीर्वाद ही से सब प्रकार की सिद्धि होती है व सब प्रकार के बन्धन कट जाते हैं जिस प्रकार जन्मांध को रूप का ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार बगैर सद्गुरु के किसी मुमुक्षु को सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। जिसके गुरु न हों अथवा जिनको अपने कुल गुरु में विश्वास न हो, उनको आगे दिये हुए मंत्र के मध्य में चित्त लगाकर ध्यान करने से शुद्ध चित्त में गुरु की मूर्ति दिखाई देगी तब संशय रहित होकर उनहीं को गुरु मानकर उनकी आज्ञानुसार चलना चाहिये। कुछ पुस्तकें देखकर और अपने मन से ही कुछ साधनायें पसंद करके तथा कुछ स्तोत्रों व मंत्रों का संग्रह करके कभी किसी देवता का ध्यान और योग करके व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना चाहिये। सिद्ध महापुरुष या गुरु से मंत्र ग्रहण करने पर उस मंत्र का पुरश्चरण नहीं करना पड़ता क्योंकि मंत्र के साथ ही उस महापुरुष व गुरु की शक्ति शिष्य के शरीर में प्रवेश कर जाती है, अन्यथा मंत्रों के तन्त्रोक्त नियमों के द्वारा शोधन करके पुरश्चरण करना पड़ता है। सिद्ध पुरुष या गुरु के सिवाय अन्य किसी के द्वारा मंत्रों के दिये जाने पर उनका फल प्राप्त नहीं होता। इसलिये गुरु को खोजना परम आवश्यक है। उनसे मंत्र ग्रहण करने पर सब विघ्न दूर हो जाते हैं। शरीर के रोगी होने पर योग या मंत्र जप के द्वारा शरीर को शुद्ध करना पड़ता है। जो कुछ भी न करके या गायत्री मंत्र का जप किये बिना ही साधना करने लगते हैं उनके शरीर में नाना प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होकर साधना में विघ्न डाल देती हैं। इसीलिये व्याधि नाश के लिए गायत्री या प्रणव का जप करना होता है।

साधना को आरम्भ करने के पहले साधनार्थी को प्रतिदिन तीन हजार गायत्री का जप तथा आगे लिखा मंत्र बनाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। इस उपाय से उत्तम श्रद्धालु साधक को एक वर्ष और मध्यम को तीन वर्ष में गुरु की प्राप्ति हो जायेगी। शास्त्रों में गुरु प्राप्ति को भी एक सिद्धि ही कहा गया है। गुरु के प्राप्त होते ही यह समझ

लेना चाहिये कि भव सागर पार करने के लिए नौका मिल गयी। अतएव गुरु के प्राप्त होते ही अपने को उनके चरणों में अर्पण करके जैसी वह आज्ञा दें उसका अटल श्रद्धा के साथ पालन करना चाहिये। परन्तु किसी पाखण्डी वेषधारी की बातों में आकर उसे ही गुरु बना लेने की मूर्खता न करके किसी निष्काम निःस्पृह और सिद्ध महात्मा को ही गुरु बनाना चाहिये।

रक्षोघ्नं मृत्युतारकम् सुदर्शनं महाचक्रम्

साधकों के दैनिक कृत्य

- ब्रह्म मुहूर्त में निद्रा त्याग-

रात्रि का चौथा भाग साधकों के लिए बड़ा ही उत्तम है उस समय शांति का साम्राज्य रहता है और शरीर तथा इन्द्रियों को आवश्यक आराम मिल जाने के कारण वह बाहरी शाँति अनुकूल परिस्थिति और वातावरण के कारण मन शीध्र व सरलता से एकाग्र हो सकता है। इसी कारण प्राचीन काल से यह समय ब्रह्म मुहूर्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस समय साधक उठकर, हाथ पैर और मुंह धोकर अलहदा आसन पर बैठकर पहले श्री गुरु का ध्यान करें। गुरुदेव शिव रूप हैं और अपनी शक्ति के साथ मस्तक स्थित सहस्रदल कमल पर विराजमान हैं वह प्राण और शरीर में शक्ति का संचार कर रहे हैं। गुरुदेव का चिंतन करने के पश्चात् इष्टदेव का ध्यान करने के लिए उनसे प्रार्थना करके अपनी साधना के अनुसार इष्टदेव की मूर्ति व कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करें। मन को इधर–उधर जाने से रोककर बार–बार इष्टदेव के चरणों, भ्रूमध्य, नासिकाग्र, हृदय अथवा नाभि पर स्थिर करना चाहिये। प्रातःकाल होने पर भगवान के स्तोत्र जागरण के मंगल गान, पवित्र नामों का कीर्तन, प्रभाती व हृदय स्पर्शी प्रार्थना तथा उनकी कीर्ति स्मरण करे।

स्नान विधि

किसी नदी झरना, स्वच्छ तालाब बावड़ी अथवा कुआं के जल से स्नान करें। नहाने के पहले जल के देवताओं को प्रणाम करके व अपने ऊपर जल छिड़क कर 'ॐ अद्येत्यादि अमुक गोत्र नाम भगवत्प्रीत्यै अमुक तीर्थे स्नानं करिष्ये' कहकर स्नान करें। स्नान कर लेने के बाद नीचे लिखे मंत्र से अंगन्यास करें।

ॐ गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन्सन्निधिं कुरु।।

उपर्युक्त मंत्र कहने के बाद यह भावना करे कि सूर्य मंडल से अधिष्ठात्री देवता उतर रहे हैं, 'वं' इस अमृत बीज का उच्चारण व धेनु मुद्रा करते हुए ऐसी भावना करनी चाहिये कि वह जल अमृत हो गया है और ग्यारह बार इष्टमंत्र का जप करें। पश्चात् सूर्य नारायण को बारह अंजलि जल चढ़ाकर यह भावना करें कि मेरे इष्ट देव के चरणों से ही यह जल निकला है। इसलिये परम पवित्र है। फिर अपने मस्तक पर तीन बार अभिषेक करके संध्या–वंदन, तर्पण आदि व नैमित्तक कर्म करें। स्नान गंगा जी में करें या अन्यंत्र गंगा जी का ध्यान व मंत्र जप अवश्य कर लेना चाहिये। परन्तु एक तीर्थ में दूसरे तीर्थ का ध्यान न करें। गंगा जी का मंत्र है ॐ ह्रीं गंगायै ॐ ह्रीं स्वाहा' गंगा जी का ध्यान व इस मंत्र को जपते हुए भी स्नान करें, गंगा स्नान का फल मिलता है।

सात प्रकार के स्नान -

स्नान सात प्रकार के होते हैं। (१) मंत्र (२) भौम (३) आग्नेय (४) वायव्य (५) दिव्य (६) वारुण (७) मानस।

'आपोहिष्ठा' इत्यादि मंत्रों से जो मार्जन होता है उसको मंत्र स्नान कहते हैं। शरीर में मिट्टी लगाने को भौम, भस्म लगाने को आग्नेय, गायों के चरणों की धूलि वायु द्वारा उड़कर आती है इसीलिये उस धूलि से निमित्त कारण वायु के नाम से वायव्य स्नान, धूप में होने वाली वर्षा में स्नान को दिव्य, मानस स्नान अपने इष्टदेव के अनुसार होता है।

वैष्णव आभ्यन्तर स्नान

वैष्णव आभ्यन्तर स्नान में साधक को यह चिंतन करना चाहिये कि मेरे सामने ऊपर आकाश में द्वादश कमल पर जिसके प्रत्येक दल पर द्वादशाक्षर मंत्र का एक एक अक्षर अंकित है, शंख चक्र गदाधारी चतुर्भुज भगवान विष्णु विराजमान है। वे वनमाला पहने हुए कमल नेत्रों से आशीर्वाद और प्रेम की वर्षा कर रहे हैं। उनके मुख मण्डल से कोटि–कोटि सूर्य के समान चारों ओर प्रकाश की किरणें फैल रही हैं। उनके चरण

कमलों से अमृत की धारा निकलकर मेरे सर पर गिर रही है और मेरे ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा मेरे शरीर में प्रवेश कर रही है। ऐसी भावना से जो स्नान किया जाता है शास्त्रों में उसे मंत्र स्नान से भी हजार गुना उत्तम कहा है।

शैव आभ्यन्तर स्नान

अपने इष्टमंत्र से प्राणायाम करके मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र तक शक्ति का उत्थान और गमन सम्पन्न करके सहस्रार स्थित परम शिव के साथ उसका संगम करावें। उन दोनों के सम्मिलन से प्रकट अमृतधारा में स्नान कर रहा हूं, ऐसी भावना करें। इसी प्रकार अन्य देवताओं का भी स्नान होता है।

जिसका मन तीर्थ सेवी हो गया है, वह समस्त बंधनों से छुटकारा पा जाता है। उदाहरणार्थ मनुष्य के हृदय में पुष्कर तीर्थ है, शिरा भाग में बिन्दु तीर्थ है, सुषुम्ना में शिव तीर्थ है, इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का मस्तक में जहां समागम होता है वहां त्रिवेणी तीर्थराज है, भ्रूमध्य के बीच में वाराणसी है। इसी प्रकार छः चक्रों में विशेष दो तीर्थ हैं। उनमें जो स्नान करता है, वह स्नान मात्र ही से समस्त पापों से मुक्त एवं भगवान प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है।

वस्त्र शुद्धि

यदि जल के अंदर ही नित्य कर्म करना हो तो गीले वस्त्र ही से कर लेना चाहिये। अन्यथा पहनने के सूती कपड़े शुद्ध होना चाहिये। ऊनी, कपड़े अग्नि, ताप, वायु व सूर्य की किरणों से शुद्ध हो जाते हैं इसीलिये उनको रोजाना धोने की आवश्यकता नहीं।

तिलक व भस्म

पूर्व अथवा उत्तरमुख बैठकर श्वेत, रक्त, गोपी, चन्दन, कुमकुम, भस्म आदि से अपने सम्प्रदाय के अनुसार तिलक लगावें। कुछ न हो तो

जल से ही तिलक कर लें। तिलक देखकर लोग उसके अनुसार अभिवादन व नाम स्मरण करते हैं।

संध्या

संध्या की विधि इतनी उत्तम और पवित्र है, कि पाप नष्ट करने, चित्त को एकाग्र करने व परमात्मा में शीघ्र स्थित करने में बहुत ही सहायक होती है। संध्या की विशेषता दस क्रियायें व उनके पृथक–पृथक मंत्र हैं। (१) आसन शुद्धि (२) मार्जन (३) आचमन (४) प्राणायाम (५) अघमर्षण (६) अर्ध्यदान (७) सूर्योपस्थान (८) न्यास (९) ध्यान (१०) और जप। अर्थात पवित्र स्नान जैसे नदी तट, मन्दिर अथवा ऐसी ही दूसरी जगह हो शास्त्रीय आसन अर्थात् पद्म सिद्धादि, आसन से बैठे इनसे पवित्रता व एकाग्रता होती है। उस समय जो मंत्र पढ़ा जाता है। उसका अर्थ यह है कि 'हे पृथ्वी माता! तुम्हें विष्णु ने धारण किया है और तुमने लोगों को।' 'मां' तुम मुझे भी धारण करो और यह आसन पवित्र कर दो।' मार्जन से शरीर में शीतलता आती हे, जल के अधिष्ठात्री देवता आलस्य आदि दृष्टियों को नष्ट करके शुद्ध शांत व सात्विक भावों की धारा प्रवाहित करते हैं। आचमन का अर्थ यह है कि सूर्य अग्निदेवता मुझे पापों से बचावें। और अब तक के किये हुए पाप उनके अमृत स्वरूप में हवन करता हूं। प्राणायाम से लाभ व महिमा को सभी जानते हैं। अघमर्षण और भूतशुद्धि एक ही है। यह भी अत्यंत लाभदायक है। अर्ध्यदान और सूर्योपस्थान दोनों ही सूर्य भगवान की उपासना है। न्यास से अभिप्राय है शरीर के प्रत्येक अंग में जब मंत्र और देवता का स्थापन हो जाता है, तब संपूर्ण शरीर मंत्र और देवमय हो जाता है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' के अनुसार वास्तव में तभी देव पूजा का अधिकार प्राप्त होता है। ध्यान और जप अपने इष्टदेव व गुरु के आदेशानुसार करें।

यहां पर संध्या का महत्व संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है। गायत्री सब की पृथक्–पृथक् है इसलिये मंत्र आदि व विस्तार पूर्वक विधि अलहदा पुस्तक में देख लेनी चाहिये।

संध्या से लाभ

जिसका मन तीर्थ सेवी हो गया है, वह समस्त बंधनों से छुटकारा पा जाता है। यह सब वर्णन पहले ही दिया जा चुका है। संध्या करने से निम्न तरह के लाभ होता है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने सद्भाव को स्थिर करने के लिये संधि के समय संध्या करने का महत्व बतलाया है। (१) प्रातः काल की संधि (२) माध्यान्ह काल की संधि। (३) सांयकाल की संधि। इन तीनों कालों में मनुष्य दत्तचित्त होकर जिस सद्भाव को अन्तःस्थल में धारण करेगा वही जाग्रत रहेगा और उसी का प्रभाव दिन भर प्रवाहित रहेगा। संधि के समय जिस प्रकार के भाव पैदा हो जाते हैं उनका प्रभाव प्रधान रूप से अगली संधि तक रहता है। इसीलिये जप, ध्यान धारणादि क्रिया करने के लिये संधि काल का इतना महत्व बतलाया है।

जो लोग इस समय एकान्त में अपने अन्तर के एक राग को विश्व के महान राग से सम्बद्ध करते हैं। वे बाहरी भीतरी दोनों प्रकार की एकाग्रता सम्पादन व आश्चर्यजनक उन्नति प्राप्त करते हैं। उस समय अपने मन से सब प्रकार के विचार त्याग कर यह चिंतन करना चाहिये कि 'मैं चैतन्य स्वरूप हूं' मैं जीवन तत्व में परिपूर्ण हूं। परमात्मा जीवन से आरोग्य, शांति, पूर्णता का मेरे शरीर के अणु–अणु में संचार हो रहा है।

मैं परमात्म तत्व में लीन हो रहा हूं। मैं सर्व दुःखों, दोषों, व्याधि से अन्तर बाह्य मुक्त हो गया हूं। इस प्रकार हमारी आत्मा परमात्मा के अधिक से अधिक निकट संबंध में आने लगती है और हमारा शरीर, मन व आत्मा सब परमात्माकार हो जाते हैं और दुःख स्वरूप संसार के स्थान पर सुख का महासागर रूप संसार दिखाई देता है।

केवल शरीर पर जल छिड़कने अथवा मंत्रोच्चारण कर लेने से संध्या नहीं होती। जिस अवस्था में परात्पर तत्व से एकता हो जाय महान पुरुषों ने उसी को संध्या कहा है। प्रणव के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण मंत्र गायत्री ही है।

साधन

(१) **मौन** - अधिक नहीं तो कम से कम दो चार घंटा पूजा पाठ के समय मौन धारण करना चाहिये।

(२) **कम बोलना** - बातचीत पर नियंत्रण रखकर आवश्यक बातचीत ही करना चाहिये।

(३) **एकान्त सेवन** - लोगों से आवश्यकतानुसार ही मिलना घर पर भी अलहदा घर में उठना बैठना, धार्मिक पुस्तकें व जगत् की असत्यता पर विचार करना।

(४) **पश्चाताप व संकल्प** - रात को सोते समय अपने दिन भर के कार्यों पर विचार करके अनुचित कार्यों के लिये पश्चाताप करना व भविष्य में उनके न करने का संकल्प करना।

(५) **सत्य बोलना** - मजाक में भी झूठ न बोलना चाहिये।

(६) **योगाभ्यास** - नित्य नियम से योगाभ्यास करना।

(७) **भजन करना** - नित्य माला अथवा बिना माला के भजन करना चाहिए। दिन रात में २१६०० श्वास चलती हैं अतएव कम से कम इतना ही भजन करना चाहिये। यह संख्या दो सौ माला फेरने से पूरी हो सकती है। दो घंटे सुबह व दो घंटे शाम अथवा सुविधानुसार माला फेरे। सुमरनी या माला पास रखे और समय मिलने पर अथवा चलते–फिरते भजन करो और समय का सदुपयोग हो सके।

(८) **अजपा जप** - नीचे लिखे अनुसार किया जाता है।

(१) जीभ से नाम का उच्चार करें, कुछ आवाज भी निकलती रहे जिससे सुमरन बंद न हो और ध्यान भी लगा रहे। (२) कंठ (३) हृदय से (४) नाभि से श्वास के साथ (५) जीभ से।

यह अजपा जप जीभ से एक साल, कंठ से दो साल, हृदय से दो साल और नाभि से सात साल अर्थात् बारह वर्ष करने से मनुष्य मोक्ष रूप हो जाता है। उसे प्रभु का साक्षात्कार अर्थात् जाग्रत अवस्था में भगवान

के दर्शन व सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

अजपा के जप के नियम - (१) भोजन अल्प (२) थोड़ी नींद (३) एकान्त वास (४) गद्दा व तकियों का त्याग (५) मौन (६) सात्विक भोजन अर्थात् चावल, दही, खटाई, तेल ज्यादा मिर्च मसाले व अन्य राजसी, तामसी व वायु उत्पन्न करने वाले पदार्थों का त्याग। एक समय भोजन और रात को आधा शेर से दूध काफी है। मीठा व नमक बहुत कम खाना चाहिये। नींद कम करने का उपाय है कि रात को जगने के समय दस बजे से एक घंटा हर महिना बढ़ता जाय। इस तरह चार बजे तक जागने का अभ्यास करें। चार बजे से छः बजे तक सोवे। इतना समय काफी न हो तो चार घंटे तक सोवे, अधिक नहीं। फिर भी नींद मालूम होने पर धीरे–धीरे टहलें, मुंह धो लें इस प्रकार कुछ दिनों में अभ्यास हो जायेगा।

(६) रात को कमरे में जहां कोई दूसरा न हो जिसे देखकर नींद आये।

(१०) कुश तथा ऊन या चर्मासन हो। रोशनी हो तो उसे तेज रखें।

(११) रात को एकान्त स्थान पर भगवान का ध्यान व स्मरण करें। विकल होकर रोने से प्रेम बढ़ता है। मीराबाई के भजन करते समय अश्रुधारा बहती रहती थी। जब तक ऐसा न हो प्रेम नहीं कहा जा सकता। यही भक्ति का खास अंग है।

(१२) जीव मात्र पर दया रखना व दुःखियों की सहायता करना।

(१३) यथाशक्ति दान करना।

(१४) कथा वार्ता करना कराना।

(१५) मन को इधर उधर जाने से रोक कर भगवान के चरणों में लगाना।

(१६) **ब्रह्मचर्य** - मनसा, वाचा, कर्मणा, से ब्रह्मचर्य रहना।

(१७) **उपवास** - एकादशी, पूर्णमासी अथवा अन्य दिनों में उपवास करना।

(१८) **भगवद्भक्ति** - भगवान के दर्शनों के सिवाय ओर कोई,

इच्छा न रखना।

(१६) साधना के स्थान पर मिट्टी का तेल न जलावे।

(२०) निशाकाल तथा ब्रह्ममुहूर्त ४ बजे प्रातःकाल साधना करने से महापुरुष व देवी देवता साधक की सहायता करते हैं। स्थान व स्वयं पवित्र होना चाहिये। शुद्ध भाव से साधना करने पर कुछ महीनों बाद जीवन युक्त पुरुष व देवी देवता की अनुकम्पा का अनुभव होने लगेगा यह बात ध्रुव सत्य है।

(२१) साधना शुद्ध होकर, सुविधा हो तो स्नान करके या हाथ पैर धोकर, कपड़े बदलकर, खड़ाऊँ पहनकर साधना के स्थान में जावे।

(२२) साधक अपना भोजन स्वयं बना ले तो विशेष लाभ होगा क्योंकि तामसिक व राजसिक व्यक्ति के हाथ के भोजन से वृत्ति पर उसी के अनुसार प्रभाव पड़ता है।

साधक को नीचे लिखी हुई चार बातें सदैव स्मरण रखना चाहिये।

(१) अपना स्वरूप – मैं ईश्वर का अंश हुं देहादि नहीं हूं।

(२) ध्येय का साध्य का स्वरूप – मेरा इष्ट देव सच्चिदानंद स्वरूप है।

(३) साधना का फल – इष्टदेव के प्रति आत्यान्तिक अनुराग ही साधना का प्रधान फल है।

(४) साधना के विघ्न – इष्टदेव के सिवाय सम्पूर्ण प्रपंच ही विघ्न है। साधक के चार प्रकार के सहायक होते हैं। (१) गुरु (२) शास्त्र (३) उत्साह (४) काल।

साधु सन्यासियों की नित्य नैमित्तिक साधना -

(१) स्त्री, कुटुम्ब धन व सम्पत्ति आदि का त्याग करके ही मनुष्य साधु या सन्यासी होता है। यदि उसका इनसे किसी प्रकार का संबंध बना रहा तो फिर उन्होंने त्याग ही क्या किया और साधु सन्यासी ही क्यों हुआ? उसे तो सदा विरक्त व निःसंग ही रहना चाहिये।

(२) विरक्त को दो एक कोपीन, जलपात्र तथा झोली व अन्य एक दो वस्त्रादि के सिवाय और कोई वस्तु नहीं रखना चाहिये। अन्यथा वह अपने आश्रम से पतित होजायेगा या हो जाता है। विरक्त का भूषण तो त्याग और निःसंगता ही है।

(३) संसारी लोगों का सम्पर्क न रह सके इसीलिये शास्त्रों ने यज्ञ, भंडारा, मठ निर्माणादि को त्यागकर केवल एकांत सेवन का विधान लिखा है।

(४) साधु को पैसा मांगना या किसी वस्तु का संग्रह करना पाप है। उसे गृहस्थों से साधारण भोजन के सिवाय और किसी वस्तु का भार नहीं डालना चाहिये।

(५) विरक्त की शीतोष्ण हर एक परिस्थिति को सहन करने का ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि कहीं भी पड़ा रहे। उसे जाड़ों में सर्दी और गर्मियों में गर्मी का भान न रहे या न हो।

(६) अपनी इन्द्रियों को वश में रखने के लिए इच्छाओं व वासनाओं को नष्ट करके आंखों से अंधे, कानों से बहरे, जिह्वा से मूक तथा उपस्थ से नपुंसक की तरह रहना चाहिये।

(७) साधु को अपना काम दूसरे से न कराकर स्वयं ही करना चाहिये।

(८) किसी के कटुवचन व अपमानित करने पर भी क्रोधित नहीं होना चाहिये और न मन, वचन, कर्म, से किसी प्रकार की हिंसा करनी चाहिये।

(९) गृहस्थों से साधारण भोजन व वस्त्र के सिवाय और किसी वस्तु की इच्छा न करो और जहां दूसरा साधु भिक्षा मांग रहा हो वहां न जाओ। शास्त्रानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के यहां ही भिक्षा लेने का विधान है। अन्त्यजों की भिक्षा, तेज, उत्साह, उपासना आदि को नष्ट करने वाली होने के कारण वर्जित है, उक्त तीनों वर्णों के यहां जो कुछ मिल जाय उसी को 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर संतोष पूर्वक पा लेना चाहिये।

(१०) दिन रात ईश्वर चिंतन व सद्ग्रन्थों का अध्ययन करते रहना चाहिये।

मुक्ति का एक मात्र साधन

मुक्ति का केवल एक ही मार्ग हे और वह यह है कि धीर पुरुष क्रोध को क्षमा से, इच्छाओं का संकल्पों के निरोध के द्वारा नष्ट करे और सत्व गुण का आश्रय लेकर अति निद्रा को दूर करे। सावधानी द्वारा भय, आत्म, चिंतन, श्वास पर विजय प्राप्त करे तथा धैर्य से इच्छा, द्वेष और काम को दूर करे। भ्रम, अज्ञान ओर संशय को तत्व के अभ्यास से तथा लय और विक्षेप को ज्ञानाभ्यास से नष्ट करें। शारीरिक उपद्रव और रोगों को हितकारी, सुपाच्य और परिमित आहार से लोभ, और मोह को संतोष से तथा विषयों को उनके अनित्यत्वादि स्वरूप का विचार करके दूर करे। अधर्म को दया के द्वारा और धर्म को अनुष्ठान के द्वारा वश में करें, आशा को उसके परिणाम का विचार करके नष्ट करे तथा आसक्ति को त्याग के द्वारा दूर करें स्नेह और उसके अनित्यत्व पर दृष्टि रखकर, क्षुधा को प्राणों का निरोध करके, मान कोकारुण्य से और तृष्णा को संतोष से निवृत्त करें। उद्योग के द्वारा आलस्य को, निश्चय के द्वारा संदेह को, मौन के द्वारा अतिभाषण को और शूरवीरता द्वारा भय को दूर करे। वागादि इन्द्रियों को मन में और मन को बुद्धि में लींन करे, तथा बुद्धि को ज्ञान दृष्टि के (शुद्धत्व पदार्थ के बोध) द्वारा निवृत्त करे और उस आत्माबोध रूप वृत्ति ज्ञान को शुद्ध चित्तस्वरूप आत्मा में लीन करे। जो पवित्र कर्म करने वाला शांति चित्त मुनि है उसे इस मोक्ष मार्ग पर दृष्टि रखना चाहिये।

पंच महायज्ञ

जिस प्रकार पंचदेवों की साधना व तीनों कर्म (नित्य, नैमित्तिक व काम्य) करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है उसी प्रकार नित्य प्रति पंचमहायज्ञ करना भी उसका एक अत्यंत आवश्यक धर्म और कर्तव्य है।

पंचमहायज्ञ करने से आत्मोन्नति आदि फल की प्राप्ति होने पर भी 'पंच सूना' दोषों से बचने के लिए शास्त्रकारों की आज्ञा है कि 'सर्वगृहस्थैः पंचमहायज्ञः अहरहः कर्तव्यः'। अर्थात् गृहस्थ को प्रतिदिन पंच महायज्ञ करना चाहिये।

सूना का अर्थ है कसाई खाना। भगवान मनु कहते है कि चूल्हा चक्की, झाड़ू, ओखली, जलपात्र सचमुच में हरएक गृहस्थ के यहां यह कसाई खाने हैं। हम लोगों से सहज ही चलते फिरते ही जीव भोजन, श्वास आदि के द्वारा हिंसा होती रहती है। अतएव इन पापों से मुक्त होने के लिये ही हमारे ऋषि महर्षियों ने पंच महायज्ञ का विधान बनाया है।

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं। (१) यज्ञ (२) महायज्ञ। महर्षि भारद्वाज ने उनकी विशेषता का इस प्रकार वर्णन किया है कि 'कुशलता पूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसे 'यज्ञ' पश्चात समष्टि संबंध होने से उसी को 'महायज्ञ' कहते हैं। इस बात को महर्षि अंगिरा ने भी कहा कि व्यष्टि समष्टि संबंध से यज्ञ महायज्ञ कहे जाते हैं।

यज्ञ का फल आत्मोन्नति व आत्म–कल्याण है उसमें व्यष्टि का संबंध होने के कारण उसमें स्वार्थ की प्रधानता आ जाती है। (यही उनकी न्यूनता है)।

महायज्ञ का फल जगत का कल्याण उसका समष्टि से संबंध होने के कारण उसमें निःस्वार्थता की प्रधानता रहती है। यही उसकी विशेषता है। जिस यज्ञानुष्ठान के प्रभाव से जीव की क्षुद्रता, अल्पज्ञता आदि का नाश होता है वह परमात्मा के साथ एकाग्रता को प्राप्त होता है। उस अनुष्ठान का महत्व सर्वमान्य है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

पंचमहायज्ञों का वर्णन प्रायः सभी ऋषि, मुनियों ने अपने धर्म ग्रन्थों में किया है। मनु महाराज ने मनुस्मृति में लिखा है कि 'जो मनुष्य पंच यज्ञ के द्वारा देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग, मित्रवर्ग और आत्मा इन पांचों को अन्नादि नहीं देते वे जीते हुए भी मरे के समान हैं। अर्थात् उसका जीवन निष्फल है। जो गृहस्थ शक्ति के अनुसार नित्य पंचयज्ञ करते हैं वे सूना जनित पाप के भागी नहीं होते। साथ ही अन्नादि की शुद्धि और पापों

का क्षय होता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता के अध्याय ३ श्लोक १३ में कहा है कि यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष पंच हत्या जनित समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो अपने लिये ही पाक बनाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं। अतएव पंचमहायज्ञ के महत्व को जानते हुए प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह नित्य पंचयज्ञ अवश्य करे, जिससे उनको धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति हो।

पांचों यज्ञों के नाम इस प्रकार हैं। (१) ब्रह्म यज्ञ, (२) देव यज्ञ (३) पितृ यज्ञ (४) भूत यज्ञ (५) नृयज्ञ।

वानप्रस्थियों व शूद्रों के लिये यह विशिष्ट प्रकार के हैं। (मनु. ६/५ और यज्ञावल्क्य १/१२१)

(१) ब्रह्मयज्ञ - वेदों के पठन पाठन को ब्रह्म यज्ञ कहते हैं। वेद में कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड में ज्ञान की ही प्रधानता है व परमावश्यक बतलाई गई है। ज्ञान के कारण ही मनुष्य देह उत्तम मानी गयी है। शास्त्रोक्त सदाचार व धर्मानुष्ठान में तत्पर रहना ही मनुष्यता है और वही वास्तविक मनुष्यत्व का अधिकारी माना जाता है। इसके पश्चात् कर्मकाण्ड द्वारा अंतःकरण की शुद्धि हो जाने पर मनुष्य उपासना काण्ड का अधिकारी बनता है। इसके उपरान्त भगवत्कृपा से ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। यह मनुष्यों का सामान्य उन्नति क्रम है, इसमें ज्ञान का प्राधान्य है। अतः सभी अवस्थाओं में ज्ञान की आवश्यकता है अतएव वेद, शास्त्रों को निर्हेतु पढ़ना और जानना चाहिये। इस प्रकार की प्रचलित रूढ़ि यह है कि नित्य प्रातः व संध्या काल तीनों वेदों का एक एक मंत्र उच्चारित किया जाता है। गायत्री का विशेष जप कर लेने से वे वेदाध्ययन का कार्य हो जाता है। भगवान मनु कहते हैं कि –

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः।।

(मनु.स्मृ २/१०४)

अर्थात नित्य के अवश्य अध्येय वेदाध्ययन के लिए कम से कम इतना तो अवश्य ही करना चाहिये कि अरण्य में जलाशय के पास बैठ समाहित होकर सावित्री का जप करे।

(२) **देवयज्ञ** - सूर्य, अग्नि सोमादि देवताओं के प्रति नित्य का होम है। होमाग्नि में घृत की जो आहुति दी जाती है। उसे आधुनिक लोग केवल अपव्यय समझते हैं। परन्तु दूरदर्शी महर्षि इसके महत्व को जानते हैं। और हम लोगों को इतना तो जानना ही चाहिये कि इससे वातावरण शुद्ध होकर आरोग्यता की प्राप्ति तथा धान्य की वृद्धि होती है। यही दो वस्तुएं हैं जो प्राणी मात्र के लिए आवश्यक है। मनुस्मृति में लिखा है कि 'अग्नि में दी जाने वाली आहुति आदित्य में पहुंचती है और आदित्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न और प्राणी उत्पन्न होते हैं और जीते हैं। (मनु. स्मृ ३/७६) भगवान कृष्ण ने भी गीता के अध्याय ३ श्लोक ६ से १५ तक ऐसा ही उपेदश दिया है। चरक के विमान स्थान अ. ३ में चरक महाराज ने लिखा है कि पृथ्वी जल व वायु के दूषित हो जाने से ही देश की उजाड़ देने वाली महामारी आदि रोग फैलते हैं।

(३) **पितृयज्ञ** - नित्य पितरों को तिलोदक देकर तर्पण पिंडदान करना और एक ब्राह्मण को उनके निमित्त भोजन कराकर उनका श्राद्ध करना। (मनु. ३—८३) बहुत से लोग समझते हैं कि पितृ तर्पण केवल पितृपक्ष में ही किया जाता है परन्तु यथार्थ में पितरों का तर्पण नित्य के पंचयज्ञों में एक महायज्ञ है, पितृ यज्ञ से मनुष्य ज्ञान, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सकल पदार्थों को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। पितरों की तृप्ति, सम्मान व कृतज्ञता तथा उनके उत्रृण होने के लिए 'पितृयज्ञ' करना आवश्यक है।

(४) **भूतयज्ञ** - सब प्रकार के जीवों अंत्यज, अपाहिज, कृमि, कीट, पतंग, पशु व पक्षी आदि को खिलाने को भूतयज्ञ कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य श्वास—निश्वास, भोजन, पान व विहारादि में अगणित जीवों की हिंसा कर देता है आमिष भोजियों की तो बात ही क्या है। अतः भूतों से उत्रृण होने के लिए भूतयज्ञ करना चाहिये। 'देवयज्ञ' से बचे हुए अन्न को भूमि

पर डाल देना और उसे पशु, पक्षी एवं गौ आदि को दे देना चाहिये। (या. स्मृ.)

(५) **नृयज्ञ** - (मनुष्य यज्ञ) क्षुधा से पीड़ित मनुष्य के व अतिथि के घर आने पर चाहे वह किसी जाति, धर्म या सम्प्रदाय का हो उसे खिलाना पिलाना नृयज्ञ है। हमारे पूर्व पुरुष अतिथि अभ्यागत के आने की प्रतीक्षा किया करते थे और किसी दिन न आने पर अपने को अभागा समझते थे। कम से कम एक अतिथि को भोजन करा देना प्रत्येक गृहस्थ अपना धर्म व कर्तव्य समझता था। अतिथि को भोजन कराने के पश्चात् गृहस्थ व उनकी पत्नी भोजन करते थे। मनुष्य यज्ञ से धन, आयु, यश व स्वार्गादि की प्राप्ति करते हैं। ऊपर लिखे यज्ञों द्वारा मनुष्य, ब्रह्म, देव, पितृ व अन्य जीवों की सेवा करके यश, पुण्य, आनंद और मुक्ति प्राप्त करता था।

'ईश्वर व देवताओं की आराधना'

भेद और अभेद दोनों प्रकार की निष्ठाओं में ध्यान सबसे अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है। भगवान कृष्ण ने गीता में ध्यान की बड़ी महिमा वर्णन की है। उन्होंने अपने परम भक्त अर्जुन को अपने मन को उनमें (भगवान में) लगाने का उपदेश दिया है। योग साधन में तो ध्यान का स्थान बहुत ही ऊंचा है। साधक को अपनी रुचि, भावना और अधिकार के अनुसार तथा अभ्यास की सुगमता देखकर किसी एक प्रकार से आराधना करना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि सगुण साकार और निगुर्ण निराकार भगवान वास्तव में एक ही है, एक ही परमात्मा के अनेक दिव्य स्वरूप हैं। भगवान के परम भाव को लक्ष्य में रखकर किसी भी प्रकार से उनका ध्यान किया जाय अंत में उसकी प्राप्ति इष्टदेव की ही होतीहै।

भगवद् गीता के छठवें अध्याय के ग्यारहवें व तेरहवें श्लोक के अनुसार एकांत, पवित्र और शांतिदायक स्थान में सिद्ध, पद्म व स्वस्तिक तथा अन्य सुख साध्य आसन से बैठकर नींद की संभावना न हो तो नेत्र

बंद करके अन्यथा दृष्टि को भगवान की मूर्ति पर लगाकर या नासिका के अग्र भाग पर जमा कर प्रतिदिन कम से कम तीन, दो एक घंटा अथवा जितना भी समय मिल सके सावधानी के साथ लय, विक्षेप, कषाय, रसस्वाद, आलस्य, प्रमाद आदि दोषों से बचकर अत्यंत श्रद्धा व भक्ति पूर्वक तत्परता के साथ अपने इष्टदेव की आराधना करनी चाहिये। उस समय शरीर, गला व मस्तक तथा रीड की हड्डी बिल्कुल सीधी रहनी चाहिये। गुरु और शास्त्रों में प्रत्यक्षवत् विश्वास, साधन में तत्परता, इन्द्रिय तथा मन को उनके इच्छित सांसारिक विषयों से हटाना, तन मन से अहिंसा, सत्य, चोरी का अभाव, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप–स्वाध्याय, भगवत स्तुति–प्रार्थना, एकान्तवास, विषयों से विरक्ति, अनावश्यक वस्तुओं का सर्वथा त्याग, अन्न, वस्त्र, स्नान, आदि आवश्यक वस्तुओं का भी यथा साध्य कम से कम संग्रह अपने ध्येय संबंधी ग्रन्थों के सिवाय अन्य ग्रन्थों का सुनना, व ध्येय के विरुद्ध कुछ भी न सुनना, न देखना और न करना, घर परिवार में ममता का त्याग करना, दुराग्रह न करना, अखबार न पढ़ना, सभा समितियों से अलहदा रहना, प्रसिद्धि से बचना, परिचर्या न करना, परदोष न देखना, चितां न करना, न कहना, प्रिय बोलना, अनावश्यक न बोलना यथा साध्य मौन रहना या कम बोलना, चित्त के विषय, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, आसक्ति, वैर, अभिमान, व्यर्थ चिंतन और दुष्ट भावों से बचना, मान–सम्मान तथा बड़ाई न चाहना, धन और स्त्री के संग से (स्त्री साधकों को पुरुष संसर्ग से) बचना, ध्येय में प्रेम उत्पन्न करने वाले ग्रन्थों का स्वध्याय करना, इष्ट मंत्र का विधि पूर्वक जप, इष्ट के गुण, प्रभाव व रहस्य का बारंबार चिंतन करते रहना, उनकी कृपा व दयालुता पर विश्वास रखना, ध्येय की प्राप्ति में दृढ़ निश्चय रखना, साधना के स्थान वस्त्र, आसन, माला, मूर्ति व अन्य सामग्रियों को बिना नहाये न स्वयं स्पर्श करना न दूसरो को करने देना, अपने को किसी से ऊंचा न समझना, अभिमान व क्रोध न करना किसी से छूने पर वे सामग्री अपवित्र होंगी ऐसा न मानकर साधक के वातावरण में विकृति होगी ऐसा न मानना और दूसरों को नम्रता, प्रेम, आदर व विनय के साथ साधन संबंधी नियम समझाकर उनको साधन सामग्री से

पृथक् रखना। न अधिक खाना न सोना, मादक वस्तुओं तम्बाकू, गांजा, चरस उत्तेजक, गरम, खट्टी अधिक मीठी, उड़द, लालमिर्च, लहसुन, प्याज, गर्म मसाले, दही, कटहल गाजर आदि तामसी, वायु उत्पन्न करने वाले व देर से हजम होने वाले पदार्थ न खाना चाहिये।

नियत स्थान पर, नियत समय, नियत काल तक, नियत आसन से, नियत संख्या में, नियत इष्टमंत्र का जप करते हुए नियत इष्ट स्वरूप का ध्यान करना साधक के लिये परमावश्यक है।

ध्यान अनेक प्रकार के हैं, साधक को अपने अधिकार, रूचि, और सुगमता के अनुसार किसी भी एक ही प्रकार के अभ्यास को करना चाहिये हृदय में यह दृढ़ निश्चय व विश्वास रखना चाहिये कि जिस साधन को वह करता है। उसमें उसे अवश्य सफलता मिलेगी क्योंकि भक्त जिस प्रकार से भी अपने इष्टदेव को प्राप्त करना चाहता है वह अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार सभी उन्हीं के रूप हैं। श्री विष्णु, ब्रह्मा, शिव, सूर्य, गणेश, राम, कृष्ण। आदि सभी एक ही है। मार्ग भिन्न–भिन्न होते हुए भी सबके अन्त में प्राप्त होने वाले एक ही हैं। अतएव साधक को न अपना इष्ट छोड़ना चाहिये न दूसरों के इष्ट को अल्प समझना चाहिये।

ध्यान भेद, अभेद, द्वैत, अद्वैत दोनों भावों से किया जाता है। अभेद में भगवान के ध्यान के निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार यह चार भेद हैं। इस प्रकार भेद में भी भगवान के ध्यान के निर्गुण निराकार सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार यह चार भेद हैं।

निर्गुण निराकार - अनिर्वचनीय अचिन्त्य्, अवाङ्मनस् गोचर निष्क्रिय शुद्ध ब्रह्म या शुद्ध आत्मा।

सगुण निराकार - अज, अविनाशी, सर्व लोक महेश्वर, मायापति, सृष्टिकर्ता।

निर्गुण साकार - अज, अविनाशी, गुणातीत, मायातीत, दिव्य

विग्रह, भगवान।

सगुण साकार - अज, अविनाशी, लीला बिहारी अपनी दिव्य प्रकृति के साथ खेल करते हुए दिव्य विग्रह भगवान का विराट् विश्व स्वरूप परमात्मा। द्वेत या भेद।

निर्गुण निराकार -जीवों पर दया करने वाले सर्वशक्तिमान, न्यायकारी निगुर्ण परमात्मा।

सगुण निराकार - जीव जगत् का संचालन करने वाले, सर्वलोक महेश्वर विश्वरूप, विश्वकर्ता विश्वभर्ता, व विश्व संचालक प्रभु।

निगुर्ण साकार - भक्तों की सुधि लेने के लिए माया रूपधारी वस्तुतः स्व स्वरूप से सर्वदा निर्गुण ईश्वर।

सगुण साकार - भक्तों के साथ लीला करने वाले समस्त गुण निधि लीलामय भगवान्।

इन सब रूपों में एक ही सत्य तत्व वर्तमान है और वह सब में, सब जगह सब भांति, परिपूर्ण है। बुद्धिमान् साधक अपने भावों के अनुसार किसी एक रूप में उनका ध्यान करता है।

अब द्वैत अद्वैत, दोनों प्रकारों के ध्यानों के कुछ रूप आगे दिये जाते हैं।

अभेद ध्यान

(१) आंखें बंद करके या नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमाकर साधक चित्त की ओर देखे और उसमें जो कुछ भी प्रतीत हो, उसी को कल्पना मात्र जानकर उसका त्याग कर दे। इस प्रकार चित्त में आने वाली वस्तु का त्याग करते–करते शरीर इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सत्ता भी न रहने दे। सबका अभाव करते–करते कुछ काल में जब सारे दृश्य पदार्थ चित्तवृत्ति से निकल जाते हैं। हावभाव सब के अभाव का निश्चय करने वाली एकमात्र वृत्ति ही रह जाती है। यही शुभ और शुद्ध चित्त है। सब दृश्य प्रपंच का अभाव करने के बाद वह स्वप्नं भी शांत हो जाता है। फिर त्याग, त्यागी, त्याज्य वस्तु कुछ भी नहीं रह जाती है। इसके

बाद जो कुछ भी बचा रहता है वही चेतन धन परमात्मा है। इस प्रकार विचार पूर्वक दृश्य प्रपंच का अभाव करके, अभाव करने वाली वृत्ति का भी परमात्मा में लय कर देना चाहिये।

(२) आंखें बन्द करके इन्द्रियों के कार्य को रोककर साधक मन के द्वारा पुनः–पुनः परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करे। जो कुछ भी स्फुरणा मन में आये उसी में परमात्मा का भाव करे ऐसा करते–करते स्फुरणायें बन्द हो जायेंगी। परन्तु सावधान एक ही स्फुरणा परमात्मा के भाव से अछूती न रह जाय और केवल परमात्मा ही बचे रहेंगे, उस परमात्मा के साथ अपनी एकता कर दे। अर्थात्‌चित्त में यह वृत्ति जाग्रत रहे कि मैं परमात्मा का ध्यान कर रहा हूं तो इस वृत्ति को भी छोड़ दे। यह वृत्ति जब एक परमात्मा की सर्व व्यापक सत्ता में मिल जायेगी, तब केवल एक परमात्मा का बोध ही रह जायेगा।

(३) आंखें बन्द करे या नासिकाग्र भाग पर दृष्टि जमाकर ऐसा विचार करे जैसे कमरे में रखे हुए घड़े का आकाश कमरे से भिन्न नहीं है। और कमरे का आकाश जिस खुले आकाश में मकान बना है उससे अलग नहीं है। उस खुले आकाश में ही सब कमरे बने हैं। उन्हीं में से एक कमरे में घड़ा है अतएव सब जगह वही एक आकाश है, कमरे और घड़े की उपाधि से अनेक आकाश दिखाई देते हैं। घड़े का आकाश अपनी अल्प सीमा को त्याग कर महान् आकाश में स्थित होकर, जो उसका वास्तविक नित्य स्वरूप है। यदि उस महान की दृष्टि से देखें तो उसका पता लगेगा कि सब कुछ उसी में ही कल्पित है और सब कुछ में सत्य रूप से वही स्थित है। साथ ही कमरे या घड़े का निर्माण जिस उपादान और निमित्त कारण से हुआ है। उस उपादान और निमित्त का कारण का भी कारण वही आकाश है। क्योंकि पंचभूतों में सबसे पहले आकाश ही है। इसी प्रकार व्यष्टि शरीर में से अपने मैं पन को निकालकर विश्वरूप भगवान की समष्टि में स्थिर करे ओर समष्टि के नेत्रों से समस्त विश्व को अपने शरीर सहित उसी में कल्पित देखें। जैसे यशोदा जी ने भगवान के श्री मुख के अन्दर विश्व ओर उस विश्व में ब्रज

के एक गांव में अपना घर और उसमें श्री बालकृष्ण को ओर हाथ में लकुटी लिये अपने को देखा था। इस प्रकार व्यष्टि अहंकार को समष्टि में लय करके फिर उस समष्टि को भी अचिन्त्य परमात्मा में लय कर दे।

(४) आंखे बन्द कर इस प्रकार विचार करो कि इस पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्गादि समस्त भुवनों में जो कुछ देखने, सुनने या देखने में आता है वह सब एक मात्र परमात्मा ही है। वही विश्वरूप में प्रकाशित हो रहे हैं। यह समस्त जगत उनहीं से निकलता हैं, उन्हीं में स्थित है और उन्हीं में लय हो जाता है। यह सृष्टि, स्थिति और संहार की लीला उनके अपने ही अन्दर उन्हीं के द्वारा हो रही है। मैं भी उसी लीला का एक खिलौना मात्र हूं और जैसे सारी लीला वही है वैसे ही यह खिलौना भी उनसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार विचार करते–करते अपने सहित संसार और संसार के पदार्थों को एकमात्र परमात्मा के स्वरूप में लीन करके फिर ऐसा निश्चय करने वाली बुद्धि को भी परमात्मा में विलीन कर दे।

(५) आंखें बन्द करके नासिका पर दृष्टि स्थिर करके यह निश्चय करे कि सत्, चित और आनन्द से परिपूर्ण एक महान् समुद्र लहराता हुआ चला आ रहा है और मैं बैठा देख रहा हूं। इतने में ही उसने आकर मुझको अपने अन्दर ले लिया और मैं उसमें डूब गया एवं उसमें गलकर घुल गया। अब मेरा अलग अस्तित्व नहीं रहा। बस अब वह केवल चेतन का अथाह आनन्द का समुद्र ही रह गया। इस प्रकार अपने को परमात्मा में लीन कर दें।

(६) आंखें बंद कर या नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर ऐसा निश्चय करें कि ये जो कुछ देख, सुन और जान रहा था वह सब केवल स्वप्न है। यह चन्द्र, सूर्य, आकाश, दिशा, काल, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, दिन, रात देश, वेश, आदि सब कुछ स्वप्न ही स्वप्न है। और मेरे ही अन्दर मेरे ही संकल्प के आधार पर स्थित थे। यह सब मेरी ही कल्पना थी। अब मुझे ज्ञान हो गया है। अतएव यह सब अब कुछ नहीं रहे केवल मैं ही मैं बच रहा हूं मैं परमात्मा से भिन्न नहीं हूं, परमात्मा ही अपने

संकल्प से यह 'मैं' बन रहे हैं। उनके सिवा मैं और मेरा स्वप्न यह कुछ भी नहीं हैं। इस प्रकार विचार द्वारा चित्त को परमात्मा में लीन कर दें।

(७) शरीर के सभी मर्म स्थानों की भिन्न–भिन्न नाड़ियों के पृथक्–पृथक् स्थान और कौन सा वायु कहां रहता है। तथा क्या करता है, इस शरीर विज्ञान को क्रिया रूप में भलीभांति ज़ानकर तब आंखें बन्द कर ध्यान के लिए बैठे और ज्योर्तिर्मय, निर्मल आकाशवत् सर्वव्यापी दृढ़, अत्यंत अचल, नित्य आदि मध्य और अंत रहित, स्थूल होते हुए भी सूक्ष्म, अवकाश रहित, स्पर्श रहित, चक्षु से अगोचर, रस ओर गंध हीन, अप्रमेय, अनुपम, आनन्दरूप, अजर, सत्य सदसद्रूप, सर्वकारण, सर्वाधार, विश्वमूर्ति, अमूर्त, अज, अविनाशी, अप्रत्यक्ष और नित्य, प्रत्यक्ष, अन्तरस्थ और बहिरस्थ, सब ओर मुख, सब ओर आंखें, सब और पैर, सब ओर सिर, सब ओर स्पर्श वाले सर्वव्यापी ब्रह्म का ध्यान करे और वह ब्रह्म मुझसे अभिन्न है। ऐसा अनुभव करे।

(८) आंखें बन्द कर अपने अन्दर इस प्रकार देखें कि कंद से निकले हुए बारह अंगुल नली वाले चार अंगुल चौड़े, ऊर्ध्वमुख, केशर युक्त, कर्णिकासमन्वित, प्राणायाम, द्वारा विकसित, आठ दल वाले हृदय कमल पर, सब प्राणियों के हृदय में रहने वाले, पुरुषोत्तम देवपति, अच्युत, अजन्मा, अविनाशी, सृष्टिकर्ता, विभु, लक्ष्मीपति, भगवान विराजमान हैं। उनकी चारों भुजाओं में, शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं, भगवान के अंग केयूर, और कुण्डल तथा अन्य आभूषणों से सुशोभित है।

उनके वक्षःस्थल में श्री वत्स का चिन्ह है। पद्मोदर सदृश ओष्ठ है। प्रसन्न वदन है। मंद, मंद, निर्मल, हंसी हंस रहे हैं, विशुद्ध स्फटिक के समान वर्ण है। पीताम्बर पहने हुए है ओर अपने दिव्य प्रकाश से प्रकाशित हैं। या प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार ध्यान करके वह देखें कि मैं उन्हीं में विलीन हो गया। वह परमात्मा मुझ से भिन्न नहीं रहे।

(९) आंखें बन्द कर व अभ्यास हो जाने पर प्रत्यक्ष सूर्य मंडल में देखें कि दिव्य रथ के अन्दर पद्मासन पर विश्वात्मा चतुर्मुख परम सुन्दर प्रफुल्ल कमल सदृश मुख मंडल वाले हिरण्यवर्ण है। पुरूष विराजित

है उनके केश, मूछें और नखं भी हिरण्यवर्ण मय है। उनका दर्शन पापों को नाश करने वाला है। वे सब लोगों को अभय देने वाले है। उनके ललाट की आभा पद्म के गर्भ पत्र के समान लाल है। वे समस्त जगत् के प्रकाशक और सब लोगों के अद्वितीय साक्षी हैं। मुनिजन उनका दर्शन और साधन कर रहे हैं। ऐसे भगवान आदित्य का दर्शन करके यह निश्चय करे कि वह मुझसे अभिन्न है। और इस निश्चय के साथ ही अपने को उनमें चित्तवृत्ति द्वारा लीन कर दे।

(१०) कर्णिका और केशर युक्त अष्टदल हृदय कमल में चन्द्रमण्डल के मध्य विराजित गर्भाकार भोक्तारूप अक्षर आत्मा को देखे ओर ऐसा निश्चय करे कि वह आत्मा मैं ही हूं। और वह आत्मारूप मैं अमृत वर्षा करने वाली चन्द्रकिरणों से घिरा हुआ हूं, शिर में स्थित अधोमुखी षोडश दल कमल से गल–गल कर अमृत की धारायें हजारों प्रकार मेरे चारों ओर बह रही हैं वह अव्यय परमात्मा पर ब्रह्म मैं ही हूं।

ध्यान विधि

ध्यान तीन प्रकार का है। स्थूल, ज्योति, और सूक्ष्म ध्यान, जिसमें मूर्तिमान देवता या गुरु का ध्यान किया जाता है उसे स्थूल ध्यान, जिसमें तेजोमय ब्रह्म या प्रकृति की भावना को ज्योतिर्ध्यान व बिन्दुमय ब्रह्म एवं कुण्डलिनी शक्ति का दर्शन लाभ हो उसे सूक्ष्म ध्यान कहते हैं।

(१) स्थूल ध्यान

साधक नेत्र बन्द करके ऐसा ध्यान करे कि एक अति उत्तम अमृत सागर बह रहा है। समुद्र के बीच में एक रत्नमय द्वीप है। वह द्वीप रत्नमयी बालुका वाला होने के कारण चारों ओर शोभा दे रहा है। इस रत्नद्वीप के चारों ओर चमेली, मालती, केशर, चम्पा, पारिजात, पद्म और स्थल पद्मों के बहुत से वृक्ष उस द्वीप की खाई के समान लगे हैं। इन सब वृक्षों के पुष्पों की सुगन्ध से सब दिशायें सुगन्धित हो रही है।

साधक मन में इस प्रकार चिंतन करें कि इस कानन के मध्य भाग

में मनोहर कल्प वृक्ष शोभायमान है। उसकी चार शाखायें हैं। वे चारों शाखायें चतुर्वेदमय है। और वे शाखायें तत्काल उत्पन्न हुये पुष्प और फूलों फलों से लद रही हैं। उन शाखाओं पर भौंरे गुञ्जार करते हुये मंडरा रहे हैं। और कोकिलायें उन पर बैठी हुई कुहू, कुहू, शब्द करके मन को हर रही हैं। फिर साधक इस प्रकार चिंतन करे कि इस कल्पतरु के नीचे महामणियों से उज्जवलित एक रत्न मंडप अत्यंत शोभा दे रहा है। उस मंडप के बीच में मनोहर पलंग बिछा हुआ है। और उस पर अपने अभीष्ट देव विराजमान हैं। गुरुदेव ने जैसा–जैसा अभीष्ट देव का ध्यान, रूप, भूषण, वाहन आदि का उपदेश दिया हो साधक उसी प्रकार ध्यान करे।

(१) ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार नामक एक सहस्रदल महापद्म है, इस कमल के मध्य में और एक बारह दल वाला श्वेत कमल है जो परम तेज सम्पन्न है उस कमल के बारह पत्तों में क्रमशः ह,स,क्ष,म,ल,व,र,यूं,ह,स,ख,फें, यह बारह बीज लिखे हैं। उस कमल की कर्णिका में 'ॐ' बना हुआ है, फिर साधक ऐसा चिंतन करे कि इस स्थान पर सुमनोहर नाद बिन्दु मय एक पीठ विराजमान है। इस पीठ सिंहासन पर दो हंस खड़े हैं। तीन नेत्र हैं और वे शुक्ल वस्त्रों से सुशोभित हैं। उनके शरीर पर शुभ्र चन्दन लगा हुआ है, कंठ में श्वेत वर्ण के प्रसिद्ध पुष्पों की माला पड़ी है, उनके वाम पार्श्व में रक्तवर्ण शक्ति (गुरु पत्नी) शोभा दे रही है। इस प्रकार गुरु का ध्यान करने से स्थूल ध्यान सिद्ध होता है।

(२) विश्वसार तंत्र में लिखा है कि मस्तक में जो शुभ्र वर्ण का कमल है, साधक प्रभात काल में उस पद्म में गुरु का ध्यान करे, कि वह शान्त त्रिनेत्र, द्विभुज है। और उनके हाथों में वर और अभय मुद्रा है। इस प्रकार का ध्यान स्थूल ध्यान कहलाता है।

(३) जिस सहस्र दल कमल में प्रदीप्त अन्तरात्मा अधिष्ठित है, उसके ऊपर नाद बिन्दु के मध्य में एक उज्वल सिंहासन विद्यमान है, उसी पर इष्टदेव विराजमान हैं। वे वीरासन से बैठे हैं। उनका शरीर चांद के समान श्वेत है। वे नाना प्रकार के आभूषणों से विभूषित है और

शुभ्र माला, पुष्प और वस्त्र धारण किये हैं। उनके हाथों में वर और अभय मुद्रा है। उनके वाम अंग पर शक्ति विराजमान है। गुरुदेव करुण दृष्टि से चारों ओर देख रहे हैं। उनकी प्रियतमा शक्ति दाहिने हाथ से उनके मनोहर शरीर का स्पर्श कर रही है। शक्ति के वाम कर में रक्त पद्म है और वे रक्त वर्ण के आभूषणों से विभूषित है। इस प्रकार उन ज्ञान सहायुक्त गुरु का नाम स्मरण पूर्वक ध्यान करे यह भी स्थूल ध्यान है।

(२) ज्योतिर्ध्यान

मूलाधार अर्थात् गुह्य प्रदेश और लिंग मूल के मध्यगत स्थान में कुण्डलिनी सर्पाकार में विद्यमान है। इस स्थान में जीवात्मा दीपशिखा के समान अवस्थित है। इस स्थान पर ज्योति रूप ब्रह्म का ध्यान करो इसको ज्योतिर्ध्यान अथवा तेजोध्यान कहते हैं।

(१) एक दूसरे प्रकार का तेजोध्यान है जो कि भृकुटि के मध्य में और मन के ऊर्ध्व भाग में जो 'ॐ कारमय और शिखामाला समन्वित ज्योति विद्यमान है, उस ज्योति का ध्यान करे 'इस ध्यान से योग सिद्धि आत्म प्रत्यक्षता सिद्ध होती है।

(३) सूक्ष्म ध्यान

बड़े भारी प्रारब्ध व पुण्य का उदय होने से साधक की कुण्डलिनी जाग्रत होकर, आत्मा के साथ मिलकर नेत्ररन्ध्र मार्ग से होकर ऊर्ध्वभागस्थ, राजमार्ग नामक स्थल में परिभ्रमण करती है। भ्रमण करते समय सूक्ष्म और चंचलता के कारण ज्ञान योग में कुण्डलिनी का देखना कठिन होता है, साधक शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करते हुए कुण्डलिनी का ध्यान करे, इसी का नाम सूक्ष्य ध्यान है। यह ध्यान अति गोपनीय है और यह कठिनता से प्राप्त होता है।

स्थूल ध्यान से ज्योतिर्ध्याने सौ गुना, और ज्योतिर्ध्यान से सूक्ष्म ध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है। इन ध्यानों द्वारा आत्म साक्षात्कार और ध्यान सिद्धि प्राप्त होती है।

नोट—शाम्भवी मुद्रा अन्य मुद्राओं के साथ देखिये।

ध्यान विधि

आंखों को बंद करके भ्रूमध्य में बिना आंखों को दाबे ध्यान करना चाहिये। कुछ दिनों तक ध्यान करने पर तीन अथवा, पांच बिन्दु दिखाई देंगे, जिनमें एक कृष्ण और शेष श्वेत दिखाई देंगे, ऐसी भावना करना चाहिये। बिन्दु के भीतर प्रवेश करने पर भीतर का भूताकाश दिखाई देगा। उसके बाद तृतीय नेत्र प्रकट होगा, जो ज्योति से घिरा होगा। यह ज्योति मकड़ी के जाल के समान होती है और कांपती रहती है फिर उस ज्योति में वर्ण दिखाई देगा, उसमें गुहा और गुहा के भीतर चन्द्रमा व तारे दिखाई देंगे। उसके बाद अंधकार पूर्ण गुहा अपने भीतर स्वतः ले जायेगी। उसके भीतर महाकाश है जिसमें हिरण्यवर्ण के सूर्य है। यहां पर ईश्वर प्रेम स्वरूप है और सर्वत्र प्रेम व्याप्त है। उसके बाद चिदाकाश है, जिसमें आत्म दर्शन होता है। वहां की सब वस्तुऐं 'सोऽहं' उच्चारण करती हुई मिलेंगी या प्रतीत होगी। उसके बाद दूध के समान हंस और उसके बाद त्रिकोण दिखाई देगा जिसके मध्य में भीतर ब्रह्म बिन्दु होगा। ध्यान से बिन्दु का लय हो जायेगा। यही यथार्थ अन्तिम योग का ध्यान बिन्दु है।

ईश्वर दर्शन का ध्यान

समस्त शक्तियों का भंडार व केन्द्र, समस्त विश्व का संचालक, तथा समस्त ऐश्वर्य का श्रोत है। इस सत्य को मान लेने, इसी पर ध्यान करने से तुम्हारे और उसके बीच में जितने भी पर्दे है, वह सब एक–एक करके हट जायेंगे और एक दिन तुम और वह एक हो जाओगे। यही प्रथम सत्य हैं।

दूसरा सत्य है आत्मा। आत्मा का वाचक 'मैं' है। इस 'मैं' के अंदर ही प्रथम सत्य को प्राप्त कर लेने की शक्ति छिपी हुई है अथवा इस दूसरे सत्य में ही पहला सत्य छिपा है।

पहले उक्त दोनों सत्य समझने की आवश्यकता है। वह और मैं

(ईश्वर और जीव) इसी को द्वैतवाद कहते हैं। फिर जैसे ध्यान का अभ्यास बढ़ता जायेगा वैसे ही द्वैत की भावना क्षीण होती जायेगी। व 'मै' विस्मरण होता जायेगा। जिस समय 'मैं' बिल्कुल विस्मरण होकर इसके परे की अवस्था में स्थित हो जाती है, उसी अवस्था को अद्वैत अवस्था कहते हैं। यही सबसे ऊंची अवस्था है। यहां पहुंचने वाले को प्रेम, जीवन शक्ति, बुद्धि, आरोग्य, प्रसन्नता आदि सब कुछ प्राप्त हो जाते हैं। पहुंचे हुए सिद्ध पुरुष के यही लक्षण हैं। दुःखी पुरुषों के दुःखों को मिटाने में ही सिद्ध पुरुष अपनी सिद्धियों का प्रयोग करते हैं।

सब मनुष्यों में परमात्मा है और परमात्मा सब शक्तियों का भंडार है। उसके पास पहुंचने का मार्ग ध्यान है। ध्यान के द्वारा मनुष्यों की सभी इच्छायें पूरी हो सकती हैं। यह पाश्चात्य मनोविज्ञान का तत्व है।

पंच कोष

प्राच्य प्रणाली के अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए पहले निम्नलिखत पंचकोषों का ज्ञान आवश्यक हे। तदन्तर उसमें ध्यान द्वारा प्रवेश करना चाहिए।

(१) अन्नमय (२) प्राणमय (३) मनोमय (४) विज्ञानमय (५) आनन्दमय कोष इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

(१) अन्नमय कोष

पहले शुचि होकर एकान्त में बैठकर विश्व में बिखरी हुई वृत्तियों को खींचकर अपने स्थूल शरीर पर लगाना चाहिये। यह शरीर क्या है? रस, रक्त, मां, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र का बना हुआ एक पुतला। यह सातों धातु अन्न से बनी है। इसीलिये इस पुतले का नाम अन्नमय कोष है।

(२) प्राणमय कोष

अब अन्नमय कोष के भीतर प्रवेश करिये। वहां प्राणमय कोष है।

प्राण दस है। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। इन्हीं दस प्राणों के द्वारा शरीर और मन के व्यापार चलते हैं। इस प्रकार ध्यान करने को प्राणमय कोष में प्रवेश करना कहते हैं। इसके आगे मनोमय कोष है।

(३) मनोमय कोष

इसमें मन के साथ पंच कर्मेन्द्रियां हैं। हाथ, पैर, गुदा मूत्रेन्द्रिय व मुख। इसके आगे विज्ञानमय कोष है।

(४) विज्ञानमय कोष

इसमें बुद्धि के साथ पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। कान, नाक, आंख, जिह्वा एवं त्वचा। इसके आगे आनन्दमय कोष है।

(५) आनन्दमय कोष

इसमें पहुंचने पर आनन्द क्या है? इसका अनुभव होता है ओर आनन्द प्राप्त होता है।

अब अपने हृदय में अंगुष्ठ परिणाम हृदयाकाश में अणु परिमाणलिंग शरीर को ध्यान करे। यह लिंग शरीर सत्रह तत्वों का बना हुआ है। पांच ज्ञान, पांच कर्म, पांच तन्मात्राएं, मन और बुद्धि इसी लिंग शरीर के भीतर वह जीवात्मा रहता है। जिसका वाचक 'मैं' है।

जिसे हम 'मै' कहते हैं। वह इसी लिंग शरीर के भीतर रहने वाला जीवात्मा है। जिस समय कोई मनुष्य ध्यान द्वारा पहुंच जाता है। अर्थात् अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उस समय उसका बाह्य भाग बिल्कुल नष्ट हो जाताहै। यही उसकी पहचान है।

जैसे हम, जीवात्मा इस स्थूल शरीर में रहते हैं। उसी प्रकार ईश्वर भी हमारे भीतर रहता है। इसलिये परमात्मा के दर्शनाभिलाषियों को पहले इन पांच कोषों के ध्यान क्रम से जीवात्मा तक पहुंचना चाहिये। इसी स्थान व अवस्था में उस परमपिता परमात्मा के दर्शन प्राप्त होते

हैं, या हो सकते हैं।

यह विषय बड़ा ही गूढ़ और गहन है इसीलिये इसको मनन् और निदिध्यासन् करना और किसी योग्य व अनुभवी महात्मा द्वारा इसे समझना अत्यंत आवश्यक है।

पंचदेवों की साधना

वेद, पुराण और धर्मशास्त्रों में वेदपूजा का महान फल लिखा है। देवता कौन कौन और कितने हैं? इसमें मतभेद हैं। वेदान्ती केवल ब्रह्म को ही देवता मानते हैं। यास्क ने दान और दीपन करने वाले 'द्यौः' नामक स्थान में रहते हैं। उनको देवता बतलाया है अथवा सृष्टि में जो भी प्रकाशमान है, वे सब देवता हैं। प्राचीन काल में सूर्य, चन्द्र, अग्नि इन्द्र और तारागणों से संसार के अनेक कार्य व उपकार होते देखकर उन्हीं को देवता माना गया है। कात्यायन के कथनानुसार जिसकी कथा या वाक्य है। वे ऋषि है जिनका विषय उन्हीं से ज्ञान होता है। वे देवता हैं, ओर ऋषि, छन्द तथा देवता, इनसे वेद बने हैं। संख्या की दृष्टि से वेदान्तानुसार केवल एक ब्रह्म है जनता प्रकृति और पुरुष दो जानती हैं। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु व महेश तीन हैं। ऋग्वेद में इन्द्र मित्र, वरुण और वह्नि चार हैं। आह्निक तत्व में विष्णु, रुद्र, गणेश सूर्य और शक्ति पांच है। ब्रह्मवैवर्त में गणेश, महेश, दिनेश व अग्नि, विष्णु और उमा छः हैं। शतपथ में ८ वसु, ११ रुद्र, १२ सूर्य, १ इन्द्र, और १ प्रजापति–३३ है। ऋग्वेद में एक स्थान पर ११ स्वर्ग के ११ पृथ्वी के और ११ अंतरिक्ष के –३३ हैं। दूसरी जगह अग्नि, वायु, इन्द्र और मित्रादि ३३ देवता और सरस्वती, सूनृता, इला और इन्द्राणी १२ देवियों के नाम हैं। तीसरी जगह ३३३६ देवता लिखे हैं ऐतरेय में ३३ सोमप ओर ३३ असोमप कुल ६६ बतलाये हैं। उनमें १ इन्द्र, १ प्रजापति, ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्य 'सोमप' (अमृत पीने वाले) हैं ओर ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ उपयाज 'असोमप' अमतेतर पेय पीने वाले हैं। उनकी तृप्ति गंध पुष्पादि से और इनकी यज्ञादि के पशुओं से होती है। अग्नि पुराण के अनुसार १४६ देवी और आदित्य पुराण के अनुसार २०० देवता है। हिन्दू संसार में ३३ देवता

विख्यात हैं। और पद्म पुराण में भी यहीं संख्या निर्दिष्ट की गई है।

देव पूजा, में मनुष्य को सुख शान्ति और संतोष प्राप्त होता है। उत्तम विचारों का उदय होकर आलौकिक शक्ति आती है तथा कल्याण होता है। इसी कारण लोग अपनी रुचि व उद्देश्यानुसार किसी न किसी देवता को पूजते हैं। कोई किसी को भी पूजे परन्तु पूजा एक ही ब्रह्म की होती है क्योंकि जिस प्रकार अनन्त आकाश के अगणित तारों पर ब्रह्म के प्रत्यक्ष प्रतिरूप सूर्य नारायण का जब प्रकाश पड़ता है। तभी वह प्रकाशित होते हैं, यदि प्रकाश न पड़े तो दिखाई नहीं दे सकता, उसी प्रकार सृष्टि के प्रत्येक प्राणी, पदार्थ व देवादि में ब्रह्म ही का अंश विद्यमान रहता है तभी वह अमुकामुक माने जाते हैं। अन्यथा यह दिख नहीं सकते। अतएव किसी भी प्राणी, पदार्थ या देवादि की साधना, उपासना या आराधना में ब्रह्म ही का ध्यान होता है और वही इष्टदेव में प्रविष्ट होकर अभीष्ट फल देते हैं।

सभी देवता ब्रह्म के अंश प्रसूत है परन्तु पंचदेव ब्रह्म के प्रतिरूप है। ब्रह्म, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप व अशरीरी है। वे सर्व गत होने पर भी जाने नहीं जाते। उनको वही जान सकता है जो संसारी बंधनों से मुक्त लोक व्यवहारों से विमुक्त और फलाशाओं से सर्वथा उन्मुक्त है। परन्तु साधारण मनुष्य से ऐसा नहीं हो सकता। जिसने किसी प्राणी, पदार्थ या देवादि को देखा नहीं वह उसके रूप को भला कैसे, ह्रदयांकित कर सकता है? अतएव अमूर्त ब्रह्म को ह्रदयस्थ करने के लिये 'मूर्तब्रम्ह' 'पंचदेव' (विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति) की साधना अवश्य ही आवश्यक और श्रेयस्कर है और इसीलिये उनका परिचय आगे दिया जाता है।

यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि जब देवता अनेक हैं तब उनकी अपेक्षा पंचदेवों की साधना क्यों की जाय? इस शंका का समाधान दो प्रकार से हो सकता है।

एक तो यह कि 'पंचदेव' पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश के अधिष्ठाता या तन्मय ओर पंचतत्व ब्रह्म के स्वरूप हैं। अतएव अशरीरतत्त्व

ब्रह्म की उपासना सशरीर पंचदेव के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। कपिल तंत्र में लिखा है।

'आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी

वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः'

अर्थात 'विष्णु आकाश के, सूर्य, वायु के, शक्ति अग्नि की, गणेश जल के और शिव पृथ्वी के अधिपति हैं।'

दूसरा यह व्याकरण के नियमानुसार अन्य देवों की अपेक्षा पंचदेव के धात्वर्थक नाम ही ऐसे हैं जिनसे उनका ब्रह्म होना द्योतित होता है। क्योंकि 'विष्णु' (सब में व्याप्त) 'शिव' (कल्याणकारी) 'गणेश' (विश्वगत सर्व गणों के ईश) 'सूर्य' (सर्वगत) और 'शक्ति' (सामर्थ्य) इन नामों का पूर्ण अर्थ ब्रह्म ही में घटता है। अतएव अन्य देवताओं कीअपेक्षा इनकी साधना ही हितकर है।

उक्त पंचदेवों कीपूजा उसी तरह आवश्यक है जैसे ब्राह्मणों के लिए नित्य स्नान। यदि यह न किया जाय तो प्रत्यवाय होता है। पूजा तीन प्रकार की होती है। (१) नित्य (२) नैमित्तिक (३) काम्य।

जो प्रतिदिन की जाय 'नित्य' जो महोत्सव व विशेष अवसरों पर की जाय वह 'नैमित्तिक' और जो सुख–सम्पत्ति और संतान आदि की प्राप्ति के लिए की जाय वह 'काम्य' कहलाती है।

भारत में पंचदेवों की सामूहिक पृथक्–पृथक् अथवा उनमें से किसी एक ही की पूजा करने वालों की ही संख्या अधिक है। तंत्रसार के अनुसार ब्रह्म के उपासक 'ब्राह्म' विष्णु के उपासक 'वैष्णव' सूर्य के उपासक 'सौर्य' और शक्ति के उपासक 'शाक्त', शिव के उपासक शैव, गणिपति के उपासक गाणपत्य कहलाते हैं। इनमें शैव, वैष्णव ओर शक्ति के उपासक विशेष विख्यात है और भारत भर में आप सर्वत्र इन्हीं के मंदिर पायेंगे तथा लोगों के बारे में घर–घर इन्हीं की मूर्तियों की साधना करते हुए देखेंगे।

मन्दिरों व घरों में चाहे विष्णु, श्रीकृष्ण जी, रामचन्द्र जी, लक्ष्मी

नारायण जी, गोविंद, बालमुकुंद, शिवजी, गणेश जी, सूर्यनारायण, काली, हनुमान जी, दुर्गा, भवानी, सरस्वती जी, लक्ष्मी जी, भैरव जी आदि की ही मूर्तियां हो परन्तु वह सब हैं उसी ब्रह्म की सत्ता ओर पंचदेव के ही नामान्तर व रूपान्तर अतएव प्रत्येक साधक का मुख्य कर्तव्य व धर्म हे कि वह पूजाविधि के अनुसार पंचदेव की सामुदायिक, पृथक–पृथक अथवा जो इष्ट हो उनकी नित्य साधना करें। उनकी शरण में जाने से उसकी सब कामनायें अवश्य पूर्ण होगी यह ध्रुव सत्य है।

नाम साधना

नाम की महिमा अपार है, उसकी आलौकिक शक्ति का वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। देवता व ऋषि मुनि लोग इसकी जो कुछ महिमा गाते हैं वहीं हम लोगों के लिए आधार है।

नाम संकीर्तन लेशमात्र भी पाप नहीं रहने देता। यमदमादि इसके सामने फीके पड़ जाते हैं, तीर्थ स्थान छोड़ देते हैं। यमलोक का रास्ता बंद हो जाता है। यम कहते हैं हम किसको यातना दें, दम कहते हैं हम किसका दमन करें और तीर्थ कहते हैं हम क्या खायें? भगवान के नाम संकीर्तन कीमहिमा ही ऐसी है। संकीर्तन करने वाले बिना अमृत के जिला देते हैं और बिना योग साधन आदि के भगवान को प्रत्यक्ष करा देते हैं भगवान कहते हैं कि हे नारद!

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां ह्रदये न च।

मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

मैं न तो वैकुंण्ठ में ओर न योगियों के ह्रदय में रहता हूं, मैं तो वहीं रहता हूँ जहां भक्त लोग मेरा संकीर्तन करते हैं।

तुकाराम जी महाराज ने कहा है कि उठते, बैठते, खाते, पीते, चलते, फिरते, सोते, जागते भगवान का नाम लेने से संसार के दुःख छूट जाते हैं। नाम से बढ़कर कोई साधन नहीं है। कंठ से नाम उच्चारिये और मन में उनका ध्यान करिये। भगवान सामने उपस्थित हैं। पुराणों, वेदशास्त्रों, योगशास्त्रों आदि में सिवाय भगवान के नाम के और कुछ

नहीं है। सब झंझट छोड़ो, क्या इतने कष्ट उठा रहे हो? सार वस्तु को ग्रहण करो पूर्ण विश्वास के साथ भगवान के नाम का अखंड स्मरण करो। बस यही सार है और इसी में मुक्ति आदि सब कुछ है।

पांच वर्ष के बालक, ध्रुव, नारद जी द्वारा बतलाये हुए, 'ॐ नमो नारायणाय, भगवते वासुदेवाय' का जप करने से महान पद को प्राप्त हो गये। नाम की महिमा का कहां तक वर्णन किया जाय क्योंकि आप सभी लोग अच्छी प्रकार जानते हैं कि –

उल्टा नाम जपा जग जाना। वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।

शैव साधना

भगवान एक ही है, लीला भेद से उन्हीं के अनेकों नाम और दिव्य रूप हैं। साधक अपनी–अपनी प्रकृति रुचि के अनुसार किसी भी नाम रूप की उपासना करके भगवान् को प्राप्त कर सकता है। ऋषियों मुनियों ने जैसे भगवान विष्णु की आराधना की है। वैसे ही भगवान शिव की है और यह सिद्ध कर दिया है कि एक ही परमतत्व इन दो रूपों में प्रकाशित है। जैसे भगवान विष्णु परमात्मा, परब्रह्म, सर्वव्यापी, सृष्टिकर्ता साकार व सगुण भगवान हैं वैसे ही भगवान शिव हैं। कल्पभेद से कभी विष्णु की प्रधानता होती है तो कभी शिवरूप की वे आप ही एक रूप से सृष्टा बनते हैं, दूसरे से सृष्टि, एक से उपासक दूसरे से उपास्य। आप ही पूजते हैं आप ही पुजवाते हैं। यह उनकी सारी लीला बड़ी रहस्यमयी है।

यजुर्वेद की माध्यन्दिनीय शाखा के १६ वें अध्याय में शिवजी के निराकार साकार रूप का स्पष्ट वर्णन है। कैवल्योपनिषद् में कहा है कि– 'वे आदि, मध्य, अन्तहीन, निराकार, एक विभु, चिदानन्द, स्वामी, उमा के साथ रहने वाले, त्रिनेत्र और नीलकंठ हैं। इसमें भी भगवान शिव के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन किया है। श्वेताश्वतर (६/७) में लिखा है कि 'वे ईश्वरों के भी परम महेश्वर, देवताओं के भी परम देवता, परम पूज्य और भुवनेश्वर हैं।

इन्हीं की शक्ति माया प्रकृति है और यह माया के अधिपति महेश्वर हैं इनकी माया से ही यह अखिल विश्व है। वे ही इसके परम

आधार है और कारण भी हैं। इन्हीं परमपुरुष भगवान का नाम सृष्टयुन्मुखी होने पर 'अनादि लिंग' है और इनको आधार देने वाली इन्हीं की अनादि शक्ति देवी का नाम योनि है, यही दोनों अखिल ब्रह्माण्ड चराचर के परम कारण हैं। इनके साकार रूप लीला भेद से अनेक प्रकार के हैं। सभी पूज्य व उपास्य है। इनका पंचमुख रूप प्रसिद्ध है। पांच मुख इस प्रकार है।

(१) ईशान (२) घोर (३) तत्पुरुष (४) वामदेव (सद्योजात) यहां तीन स्वरूपों के ध्यान व मंत्र लिखे जाते हैं।

(१) भगवान नीलकण्ठ - दस हजार बाल सूर्यों के समान तेजस्वी, सिर पर जटाजूट, ललाट पर अर्धचन्द्र और मस्तक पर सर्पो का मुकुट धारण किये हैं, चारों हाथों में जयमाला, शूल नरकपाल और खट्वाङ्ग मुद्रा है। तीन नेत्र, पांच मुख, सुन्दर विग्रह, व्याघ्राम्बर पहने और पद्म पर विराजित है। इनका मंत्र प्रों. श्रीं ठः।

(२) शंकर जी का शरीर नीलमणी और प्रवाल के समान सुन्दर, तीन नेत्र, चारों हाथों में पाश, लाल कमल, कपाल और शूल है आधे अंग में अम्बिका जी और आधे में महादेव जी हैं दोनों अलग–अलग श्रृंगारों से शोभित, ललाट पर अर्ध चन्द्र और मस्तक पर मुकुट शोभायमान है। इनका मंत्र है। **रं क्षं मं, यं औं ॐ।**

(३) त्रयम्बक भगवान शिव का शरीर अत्यंत निर्मल है वे सुन्दर कमल पर विराजित हैं। आठ हाथ हैं। दो हाथों में अमृत के घड़े हैं। दो हाथों में मृगमुद्रा और अक्षमाला है, दो हाथों में अमृत से भरे घड़े हैं और दो हाथों से उन अमृत के सिर में स्थित चन्द्र कला पर उड़ेल रहे हैं। इनका मंत्र है, 'ॐ ह्रौं, जूं, सः भुभुर्व स्वः ॐ त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्धनम् ऊर्वारुकमिव वन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात हौं ॐ जूं सः ॐ भूभूर्वः स्वः।

शक्ति साधना

जिस प्रकार विष्णु और शिव एक हैं उसी प्रकार शक्ति भी उनसे अभिन्न है। यह एक ही परम तत्व के विभिन्न नाम हैं।

देवी, विष्णु और शिव आदि में एकत्व ही देखना चाहिये। जो इनमें भेद करता है वह निःसंदेह नरक में जाता है। (मुंडमाला तंत्र)

जिस प्रकार शिव विष्णु को विभिन्न शास्त्रों में परब्रह्म, परमात्मा, सृष्टिकर्ता व सर्वव्यापी बतलाया है उसी प्रकार शक्ति को भी बतलाया है।

एक बार देवताओं ने भगवती से पूछा कि –'कासि त्वं महादेवी' अर्थात् हे महादेवी! आप कौन हैं? भगवती जी ने उत्तर दिया। 'अहं ब्रह्म स्वरूपिणी, मतः प्रकृति पुरुषात्मकं जगदुत्पन्नम्' (श्रुति) अर्थात मैं ब्रह्म रूपिणी हूं, यह पुरुषात्मक जगत् मुझ ही से उत्पन्न हुआ है।

इसी तरह के और बहुत से प्रमाण हैं। जिनसे भगवती का निर्गुण पर ब्रह्मस्वरूप और निर्गुण निराकार सृष्टिकर्ता स्वरूप सिद्ध है। भगवती के अनेक रूप हैं। इनमें नव दुर्गा दश महाविद्या आदि प्रसिद्ध है। नव दुर्गा (१) शैलपुत्री, (२) ब्रह्मचारिणी, (३) चन्द्रघंटा (४) कूषमाण्डा (५) स्कन्दमाता (६) कात्यायनी (७) कालरात्री (८) महागौरी और (९) सिद्धदात्री।

दशमहाविद्या - (१) काली (२) तारा (३) षोड़शी त्रिपुर सुन्दरी (४) भुवनेश्वरी (५) छिन्नमस्ता (६) भैरवी (त्रिपुर भैरवी) (७) धूमावती (अलक्ष्मी) (८) बगलामुखी (९) मातङ्गी और (१०) कमला (लक्ष्मी) ये दश महाविद्या हैं। इनमें काली के शिव हैं महाकाल, तारा के अक्षोभ्य षोडशी के पंचवक्त्र, भुवनेश्वरी के त्रयम्बक, छिन्नमस्ता के कवन्ध, भैरवी के दक्षिणा मूर्ति, बगला के एक मुख महारुद्र, मातंगी के मातंग और कमला के सदाशिव विष्णु, धूमावती विधवा मानी गई है।

इन सब के अलग ध्यान मंत्र, यंत्र व कवच आदि भी हैं।

प्रधान महादेवियां तीन हैं। (१) महाकाली (२) महालक्ष्मी (३) महासरस्वती। इनका मंत्र ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।' यही प्रसिद्ध नवार्ण मंत्र है। मार्कण्डेय पुराण के तेरहवें अध्याय की दुर्गा सप्तशती है जिसमें भगवती शक्ति के स्वरूप, चरित्र, उपासना और साधनाओं का सुन्दर वर्णन है। विधि पूर्वक दुर्गा सप्तशती का पाठ, नवार्ण मंत्र का जप, पंचांग पुरश्चरण सहित करने से सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं। भगवती की कृपा से अचला भक्ति और परम शान्ति की प्राप्ति होती है।

श्री भगवती तंत्रमयी, मंत्रमयी, और प्रकाशमयी है। मंत्रमयी ध्यान से प्रसन्न होती है। भगवती 'श्री' की साधना किसी अनुभवी महापुरुष से जानकर ही करनी चाहिये वह प्रसन्न होकर साधक से सब क्रियायें पूर्ण करा देती हैं। और श्री रामकृष्ण परमहंस के पास उन्होंने एक योगिनी भेजकर उनसे सब योगिक क्रियायें सिद्ध करा दी थीं। भगवती की कृपा से साधक सर्व गुण सम्पन्न हो सकता है। सब सिद्धियाँ उसे अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं।

ईश्वर व देवताओं की आराधना

भगवान श्री रामचन्द्र जी की आराधना-

भगवान श्री रामचन्द्रं जी नवनील नीरद दूर्वा के अग्रभाग के समान हरित आभा युक्त सुन्दर श्याम वर्ण है। किशोर अवस्था है। धनुष बाण और तर्कस धारण किये हुए हैं। कमर में सुन्दर पीताम्बर पहने हुए है विशाल व अतुल बलधारीभुजायें हैं। अति सुन्दर चिबुक और नासिका है। कानों में सुवर्ण कुण्डल शोभायमान हैं। सुन्दर अरुणिमा युक्त कपोल है लाल लाल अधर हैं। कमल रूपी नेत्र और चितवन कामदेव को हरने वाली हैं। तिरछीं भोंहें हैं, काली अलकें भौंरों की पंक्तियों को लजाती हैं। मस्तक पर सुवर्ण रत्न जड़ित मुकुट सुशोभित है उनकी दया व प्रेमपूर्ण श्रोत से चारों ओर आनन्द की वर्षा हो रही है।

भगवान श्री कृष्ण जी

भगवान के चरणार बिन्द बड़े ही मनोहर हैं। चरणों में बजने वाले रत्न जटित नूपूर हैं। सुन्दर पैर व कदली फल के खम्भ की तरह जंघायें हैं। मेघश्याम नीलवर्ण शरीर पर पीताम्बर सुशोभित हैं। कमर में रत्न जटित करधनी पहने हैं। सुन्दर चार लंबी भुजायें हैं। ऊपर दाहिने हाथ में अत्यंत उज्जवल तीव्र किरणों से युक्त सुदर्शन चक्र है ओर नीचे के हाथ में कौमोद की गदा है। बायें ऊपर के हाथ में विजयी पाञ्चजन्य शंख व नीचे के हाथ में रक्तवर्ण कमल शोभायमान है। भुजाओं में बाजूबन्द व कड़े धारण किये हैं हाथों की अंगुलियों में रत्नजड़ित

अंगूठियां पहने हैं। भगवान का वक्षस्थल परमसुन्दर है ओर उसमें भृगु ऋषि के पद चिन्ह धारण किये हैं। गले में वनमाला, वैजयन्ती माला व तुलसीयुक्त सुगन्धित पुष्प तथा मुक्तमाल व रत्नों का हार विभूषित है। मनोहर चिबुक, लाल लाल ओष्ठ व सफेद अनार के दानों के समान दंत पंक्ति है। भगवान मंद–मंद मुस्करा रहे हैं। नासिका अति सुन्दर दोनों कानों में मकराकृत कुण्डल झिलमिला रहे हैं। कमल के समान नेत्र हैं, धनुष कमान की तरह भृकुटी हैं। विशाल और प्रकाशमान मस्तक पर ऊर्ध्वपुंड लाल तिलक के समान सुशोभित है। भंवर काले व घुंघराले मनोहर केश हैं। सर पर परम देदीप्यमान दिव्य रत्नजटित मोर मुकुट शोभायमान है।

भगवान के सभी अंग परमसुन्दर हैं और चित्ताकर्षक है। भगवान के मुखारबिन्द के चारों ओर अत्यंत सूर्यो सा प्रकाश फैल रहा है और अनन्त दया व आनन्द की वर्षा हो रही है।

सूर्य भगवान

सूर्य ग्रहों के राजा हैं। जपा कुसुम के समान उनका वर्ण है। दोनों हाथों में कमल लिये हैं। सिन्दूर के समान वस्त्र, आभूषण और माला धारण किये हैं। जगमगाते हीरे, चन्द्रमा और अग्नि को प्रकाशित करने वाला तेज, त्रिलोक के अन्धकार को दूर करने वाला प्रकाश। सात घोड़ों के एक चक्र रथ पर आरूढ़ होकर सुमेरू की प्रदक्षिणा करते हुए, प्रकाश के समुद्र भगवान सूर्य का ध्यान करना चाहिये। इनके अधिदेवता शिव हैं और प्रत्यधि देवता अग्नि। इस प्रकार ध्यान करके मानस पूजा और वाह्य पूजा के अनन्तर मंत्र जप करना चाहिये। सूर्य देव के अनेकों मंत्रों में से एक मंत्र यह भी है – 'ॐ ह्रीं ह्रौं सूर्याय नमः'

भगवान शंकर

सुन्दर कैलाश पर्वत पर भगवान शंकर जी विराजमान हैं सुन्दर कैलाश पर्वत पर मृगछाल बिछी हुई है। उस पर वह आसीन है चार

श्री भगवती तंत्रमयी, मंत्रमयी, और प्रकाशमयी है। मंत्रमयी ध्यान से प्रसन्न होती है। भगवती 'श्री' की साधना किसी अनुभवी महापुरुष से जानकर ही करनी चाहिये वह प्रसन्न होकर साधक से सब क्रियायें पूर्ण करा देती हैं। और श्री रामकृष्ण परमहंस के पास उन्होंने एक योगिनी भेजकर उनसे सब योगिक क्रियायें सिद्ध करा दी थीं। भगवती की कृपा से साधक सर्व गुण सम्पन्न हो सकता है। सब सिद्धियाँ उसे अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं।

ईश्वर व देवताओं की आराधना

भगवान श्री रामचन्द्र जी की आराधना-

भगवान श्री रामचन्द्र जी नवनील नीरद दूर्वा के अग्रभाग के समान हरित आभा युक्त सुन्दर श्याम वर्ण है। किशोर अवस्था है। धनुष बाण और तर्कस धारण किये हुए हैं। कमर में सुन्दर पीताम्बर पहने हुए है विशाल व अतुल बलधारीभुजायें हैं। अति सुन्दर चिबुक और नासिका है। कानों में सुवर्ण कुण्डल शोभायमान हैं। सुन्दर अरुणिमा युक्त कपोल है लाल लाल अधर हैं। कमल रूपी नेत्र और चितवन कामदेव को हरने वाली हैं। तिरछीं भोंहें हैं, काली अलकें भौंरों की पंक्तियों को लजाती हैं। मस्तक पर सुवर्ण रत्न जड़ित मुकुट सुशोभित है उनकी दया व प्रेमपूर्ण श्रोत से चारों ओर आनन्द की वर्षा हो रही है।

भगवान श्री कृष्ण जी

भगवान के चरणार बिन्द बड़े ही मनोहर हैं। चरणों में बजने वाले रत्न जटित नूपूर हैं। सुन्दर पैर व कदली फल के खम्भ की तरह जंघायें हैं। मेघश्याम नीलवर्ण शरीर पर पीताम्बर सुशोभित हैं। कमर में रत्न जटित करधनी पहने हैं। सुन्दर चार लंबी भुजायें हैं। ऊपर दाहिने हाथ में अत्यंत उज्जवल तीव्र किरणों से युक्त सुदर्शन चक्र है ओर नीचे के हाथ में कौमोद की गदा है। बायें ऊपर के हाथ में विजयी पाञ्चजन्य शंख व नीचे के हाथ में रक्तवर्ण कमल शोभायमान है। भुजाओं में बाजूबन्द व कड़े धारण किये हैं हाथों की अंगुलियों में रत्नजड़ित

अंगूठियां पहने हैं। भगवान का वक्षस्थल परमसुन्दर है ओर उसमें भृगु ऋषि के पद चिन्ह धारण किये हैं। गले में वनमाला, वैजयन्ती माला व तुलसीयुक्त सुगन्धित पुष्प तथा मुक्तमाल व रत्नों का हार विभूषित है। मनोहर चिबुक, लाल लाल ओष्ठ व सफेद अनार के दानों के समान दंत पंक्ति है। भगवान मंद–मंद मुस्करा रहे हैं। नासिका अति सुन्दर दोनों कानों में मकराकृत कुण्डल झिलमिला रहे हैं। कमल के समान नेत्र हैं, धनुष कमान की तरह भृकुटी हैं। विशाल और प्रकाशमान मस्तक पर ऊर्ध्वपुंड लाल तिलक के समान सुशोभित है। भंवर काले व घुंघराले मनोहर केश हैं। सर पर परम देदीप्यमान दिव्य रत्नजटित मोर मुकुट शोभायमान है।

भगवान के सभी अंग परमसुन्दर हैं और चित्ताकर्षक है। भगवान के मुखारबिन्द के चारों ओर अत्यंत सूर्यो सा प्रकाश फैल रहा है और अनन्त दया व आनन्द की वर्षा हो रही है।

सूर्य भगवान

सूर्य ग्रहों के राजा हैं। जपा कुसुम के समान उनका वर्ण है। दोनों हाथों में कमल लिये हैं। सिन्दूर के समान वस्त्र, आभूषण और माला धारण किये हैं। जगमगाते हीरे, चन्द्रमा और अग्नि को प्रकाशित करने वाला तेज, त्रिलोक के अन्धकार को दूर करने वाला प्रकाश। सात घोड़ों के एक चक्र रथ पर आरूढ़ होकर सुमेरू की प्रदक्षिणा करते हुए, प्रकाश के समुद्र भगवान सूर्य का ध्यान करना चाहिये। इनके अधिदेवता शिव हैं और प्रत्यधि देवता अग्नि। इस प्रकार ध्यान करके मानस पूजा और वाह्य पूजा के अनन्तर मंत्र जप करना चाहिये। सूर्य देव के अनेकों मंत्रों में से एक मंत्र यह भी है – 'ॐ ह्रीं ह्रौं सूर्याय नमः'

भगवान शंकर

सुन्दर कैलाश पर्वत पर भगवान शंकर जी विराजमान हैं सुन्दर कैलाश पर्वत पर मृगछाल बिछी हुई है। उस पर वह आसीन है चार

भुजायें हैं। ऊपर के दाहिने हाथ में ज्ञान मुद्रा है। नीचे के हाथ में फरसा है, ऊपर के बायें हाथ में मृग मुद्रा से सुशोभित है। नीचे का हाथ जानु पर रखा है। गले में रुद्राक्ष की माला है। सांप लिपटे हुए हैं। कानों में कुण्डल सुशोभित है। ललाट पर त्रिपुंड शोभा पा रहा है। सुन्दर तीन नेत्र हैं। नेत्रों की दृष्टि नासिका पर लगी है। मस्तक पर अर्धचन्द्र है। सिर पर जटाजूट धारण किये हैं अत्यंत प्रसन्न मुख है। देवता ओर ऋषि भगवान शंकर की स्तुति कर रहे हैं, बड़ा ही सुन्दर स्वरूप है।

विभिन्न देवताओं के मंत्र

एक ही भगवान की विभिन्न रूपों में साधना होती है। जहां जिस रूप में विश्वास करके जो साधक जैसी साधना करता है, भगवान उसी रूप में श्रद्धा, स्थापित कराकर उसकी साधना के अनुरूप फल प्रदान करते हैं। देवताओं के नाम,मंत्र जप संख्या व उनका फल नीचे लिखा जाता है।

(१) **भगवान शंकर** - 'ॐ हौं ॐ नमः शिवाय' जप संख्या पांच लाख और सब कामनाओं की पूर्ति होती है।

(२) **महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती मंत्र** - ॐ 'ऐं ही क्लीं, चामुण्डायै विच्चे।' जप संख्या ६ लाख एवं सब कामनाओं की पूर्ति होती है।

(३) **श्री लक्ष्मी देवी मंत्र** - 'ॐ ऐं, श्री ही क्लीं' जप संख्या १२ लाख, फल चतुवर्ग की प्राप्ति होती है।

(४) **सरस्वती मंत्र** - 'ॐ हीं हसौंः सरस्वत्यै नमः।' जप संख्या १.२ लाख, फलः विद्या की प्राप्ति होती है।

(५) **गायत्री-मंत्र** - 'ॐ भूभुर्वः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।' जप संख्या २४ लाख, फल, सर्व कामना पूर्ति।

(६) **काली मंत्र** - 'ॐ क्लीं हीं हीं दक्षिणे कालिके स्वाहा। जप संख्या २ लाख फलः पूर्ववत्।

(७) **गणेश-मंत्र**- 'ॐ हीं गं हीं महागणपतये स्वाहा।' जप संख्या

१ लाख फल, पूर्ववत्। मंत्र नं. २ वक्रतुण्डाय हुं।

(८) **सूर्यनारायण मंत्र** - 'ॐ नमो नारायणाय ॐ ह्रीं ह्रीं सूर्याय नमः' एवं 'ॐ नमो सूर्याय।' जप संख्या १६ लाख, फल पूर्व के समान हैं।

(६) **लक्ष्मीनारायण मंत्र** - 'ॐ नमो नारायणाय।' जप संख्या १६ लाख फल पूर्व सदृश ही है।

(१०) **रामचन्द्र जी मंत्र** - 'ॐ रां रामाय नमः। जप संख्या ६ लाख, फल ज्ञान और ऐश्चर्य प्राप्ति।

(११) **भगवान श्री कृष्ण जी** - मंत्र– 'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय।' जप संख्या १० लाख, फल भक्ति ज्ञान व ऐश्वर्य प्राप्ति।

(१२) **श्री राधाकृष्ण मंत्र** - 'ॐ गोपीजन वल्लभाय' जप संख्या १० लाख, फल सर्वार्थ प्राप्ति। श्री राधा–मंत्र 'ॐ ह्रीं श्री राधिकायै नमः। जप संख्या १६ लाख फल सर्वार्थ प्राप्ति।

(१३) **कृष्ण भगवान मंत्र** - 'ॐ क्लीं गोपीजन वल्लभाय स्वाहा।' जप संख्या डेढ़ लाख, फल–बृहस्पति के समान त्रिकालज्ञता की प्राप्ति।

(१४) **शक्ति-मंत्र** - 'ॐ नमः शक्त्यै' जप संख्या ६ लाख फल–सर्व कमनाओं की पूर्ति।

(१५) **हनुमान जी मंत्र** - 'ॐ नमो हनुमते, ॐ हनुमते नमः' शेष सब पूर्ववत्।

(१६) इन्द्र–मंत्र – ॐ इन्द्राय नमः।

(१७) अग्नि मंत्र – ॐ अग्नये नमः।

(१८) कुबेर मंत्र – ॐ नमः कुबेराय।

(१६) वास्तुदेव – मंत्र ॐ वास्तुपुरुषाय नमः।

(२०) नृसिंह – मंत्र– ॐ आं ह्यीं क्षों क्रों हुं फट्। जप संख्या आदि पूर्ववत् ही है।

नवग्रहों के मंत्र

सूर्य – ॐ ह्रीं ह्रीं सूर्याय नमः

चन्द्र – ॐ ऐं क्लीं सोमाय नमः

भौम – ॐ हूं श्रीं मंगलाय नमः

बुध – ॐ ऐं स्त्रीं श्रीं बुधाय नमः

गुरु– ॐ ऐं क्लीं बृहस्पतये नमः

शुक्र– ॐ ह्रीं श्रीं शुक्राय नमः

शनि – ॐ ऐं ह्रीं श्रीं शनैश्चराय नमः

राहू – ॐ ऐं ह्रीं राहवे नमः

केतु – ॐ ह्रीं केतवे नमः

प्रणवोपासना

शास्त्रों में प्रणव मंत्र (ओंकार) को मंत्र राज कहा है क्योंकि उसकी उपासना से निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह प्रत्यगात्मा का वाचक या प्रतीत रूप है। नृसिंह पूर्व तापिनीयोपनिषद् में इसका बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया गया है। देवताओं ने मंत्र राज काश्रवण करके सगुण ब्रह्म की उपासना द्वारा बुद्धि को शुद्ध किया ओर मंत्रराज प्रणव के मार्ग को जानने के लिये प्रजापति से प्रार्थना की। तब प्रजापति ने उनको उक्त उपनिषद मे उसका विस्तार से युक्तिपूर्वक उपदेश किया या दिया। ओंकार अशेष जगदात्मक है। ऐसा ध्यान करके तथा 'सारा प्रपंच ब्रह्म है' एवं 'प्रत्यगात्मा ब्रह्म है' ऐसी आलोचना करने से ब्रह्म के साथ आत्मा की एकता सिद्ध होती है और इससे निर्गुण ब्रह्म का 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप से अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। किन्तु ओंकार का सर्वात्म ध्यान के लिये कल्पना की जाती है ओर ब्रह्म का सर्वात्म वास्तविक है। ध्यान करने वाला उपासक 'ॐ उच्चारण करते हुए सर्वात्मा की ब्रह्म के साथ और ब्रह्म की आत्मा के साथ एकता करता है। इससे ब्रह्म और आत्मा का अन्योन्य तादात्म्य सिद्ध होता है।

आत्मा का रूप

आत्मा के चार पाद हैं। उनमें विश्वनामक अध्यात्म और वैश्वानर नाम अधिदेव देही प्रथम पाद हैं। इसका स्थान जाग्रत अवस्था है। मस्तक, नेत्र, मुख, प्राण, देहमध्य, मूत्रस्थान और उसके नीचे का स्थान (चरणादि) यह इसके सात अंग हैं। वैश्वानर की उपासना विधि का वर्णन छान्दोग्य श्रुतियों में है। उसमें द्युलोक को इसका मस्तक, आदित्य को नेत्र वायु को प्राण, आकाश को देह मध्य, जल को मूत्रस्थान और पृथ्वी को चरण बतलाया है। परन्तु माण्डूक्योपनिषद् में इसे उन्नीस मुखवाला कहा है। वे उन्नीस मुंह यह हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। आत्मा की चार अवस्थायें होती हैं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय।

(१) जहां इन्द्रियों के द्वारा व्यवहार होता है, वह जाग्रत मानस, चिंतन स्वप्न, तूष्णीं स्थित सुषुप्ति और तृप्तत्व तृप्ति को तुर्या कहते हैं। जाग्रत अवस्था में इन्द्रियग्राह्य विषयों को ग्रहण करने वाला होने से बहिष्प्रभ ओर स्थूल भुक् हैं।

(२) तेजस नामक अध्यात्म और सूत्र संज्ञक अधिदेव देही दूसरा पाद है। इसका स्थान स्वप्नावस्था है। प्रथम पाद के समान उसके भी सात अंग है। और उन्नीस मुख हैं, लेकिन इसका भोग्य इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। यह मन सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करता है। इसलिये इसे अन्तः प्रज्ञ ओर सूक्ष्मभुक् कहते हैं।

(३) सुषुप्ति प्रज्ञा और ईश्वर आत्मा का तीसरा पाद है। उसमें बुद्धि का लय हो जाने से द्वैत का अभाव हो जाने के कारण आत्मा एकीभूत हो जाता है और उस अवस्था में दुख का अभाव हो जाने के कारण उसे आनन्दमय कहतेहैं।

(४) सुषुप्ति के चार स्वरूप हैं। उनको सुप्ति जाग्रत, सुप्ति–स्वप्न, सुप्ति–सुप्ति ओर सुप्ति–तुरीय कहते हैं। इनमें प्रज्ञा सुखमयी सुप्त–तुर्य अवस्था का अभिमानी है।

यह तीनों पाद माया मात्र हैं। आत्मा सदा चिदेक रस स्वरूप ही होता है। तन्द्रा में जो वाणी से अध्ययनादि होता रहता है, उसे सुप्ति जागर कहते हैं तथा उस समय जो तरह–तरह के दृश्य दिखाई देने लगते हैं, वे सुप्ति स्वप्न है। इसी प्रकार प्रगाढ़ निद्रा को सुप्ति–सुप्ति ओर तत्कालीन सुखानुभव को सुप्ति–तुर्य कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों पादों से आत्मा की चिदेकरसता आवृत्त हो जाती है। उनसे अनावृत्त शुद्ध चिदात्म तुरीय है। यही इसका चौथा पाद है। सम्पूर्ण पदार्थों में अनुस्यूत ब्रह्म का अनुभव करने वाले को 'ओता' कहते हैं, अनुज्ञाता होने से वह 'अनुज्ञाता' कहलाता है। ज्ञातृव्य का निषेध होकर केवल चिदेकरस स्वरूप रहने के कारण उसे अनुज्ञा कहते हैं तथा इन तीनों अवस्थाओं से मुक्त होने पर वह अविकल्प कहा जाता है। विद्वान् की जाग्रत ओर सुषुप्ति यह तीनों अवस्थाएं भी माया लेश मुक्त होती हैं और आत्मा का यह अविकल्प पाद माया से सर्वथा मुक्त होता है। तीसरा पाद सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सबका कारण, समस्त भूतों का प्रभवरूप और आश्रय स्थान है। किन्तु इस तुरीय पाद का वर्णन किसी शब्द से नहीं किया जा सकता। वह न अन्तःप्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है इस प्रकार छः निषेधात्मक पदों से उसे लक्षित किया जाता है। यहां 'अन्तः प्रज्ञ नहीं हैं'। ऐसा कहकर विश्व का 'उभयतः प्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर जाग्रत और स्वप्न के बीच की अवस्था का 'प्रज्ञानघन नहीं है' इस वाक्य से सुषुप्ति का 'प्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का और 'अप्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का और 'अप्रज्ञ नहीं हैं' इससे अचेतन का प्रतिषेध किया गया है। उसका स्वरूप देखने में नहीं आता, वह व्यवहार का विषय नहीं है, उसे किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते तथा उसका कोई लक्षण 'चिन्ह' भी नहीं है। वह चिंतन और कथन में भी नहीं आ सकता तथा एक मात्र चैतन्य का सार स्वरूप, सर्वथा प्रपंच शून्य, शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप है। इसी का नाम आत्मा है तथा उपर्युक्त तीन पदों के निषेध द्वारा यही जिज्ञासुओं का ज्ञेय है।

श्रुतयुक्त योग और ब्रह्म विवेक से संसार निवृत्ति रूप इष्ट सिद्धि

-न्यास और उसका महत्व-

न्यास का अर्थ है स्थापन् अर्थात् बाहर और भीतर प्रत्येक अंग में इष्ट देवता और मंत्र का स्थापन ही न्यास है। इस स्थूल शरीर में अपवित्रता का राज्य है या (साम्राज्य) है इसीलिये वह देवपूजा का उस वक्त तक अधिकारी नहीं जब तक वह शुद्ध न हो जाय। जब तक उसमें अपवित्रता बनी रहती है तब तक उसके स्पर्श और स्मरण से चित्त में ग्लानि बनी रहती है। विक्षेप और अवसाद से आक्रान्त होने के कारण बार–बार प्रमाद ओर तन्द्रा से अभिभूत हुआ करता है। सब दोषों को मिटाने के लिए न्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीर के प्रत्येक अवयव में जो क्रियाशक्ति सुषुप्त हो रही है, ह्रदय के मानव अन्तराल में जो भावना शक्ति मूर्छित है उसको जगाने के लिए न्यास महा औषधि है।

न्यास कई प्रकार के होते हैं। (१) मातृका न्यास स्वर और वर्णो का।

(२) मंत्र न्यास पूरे मंत्र का, मंत्र के दो पदों का, मंत्र के एक–एक अक्षर का और एक साथ ही सब प्रकार का होता है।

(३) देवता न्यास शरीर के बाहर और आभ्यन्तर अंगों में अपने इष्टदेव अथवा अन्य देवताओं के यथा स्थान न्यास को कहते हैं।

(४) तत्त्वन्यास वह है जिसमें संसार के कार्य कारण के रूप में परिणित और उनसे परे रहने वाले तत्वों का शरीर में यथा स्थान न्यास किया जाता है। यही पीठ न्यास भी है।

(५) जो हाथों की सब अंगुलियों में तथा करतल और करपृष्ठ में किया जाता है। यह करन्यास है।

(६) जो त्रिनेत्र देवताओं के प्रसंग में षडंग और अन्य देवताओं प्रसंग में पंचांग होता हैं, उसे अंगन्यास कहते हैं।

(७) जो किसी भी अंग का स्पर्श किये बिना सर्वाङ्ग में मंत्र न्यास किया जाता है वह व्यापक न्यास कहलाता है। ऋष्यादिन्यास के छः अंग

होते हैं – सिर में ऋषि, मुख में छन्द, हृदय में देवता, गुह्य स्थान में बीज, पैरों में शक्ति, और सर्वांग में कीलक है। इनके अलावा ओर भी न्यास है लेकिन मुख्य मुख्य ऊपर लिखे जा चुके हैं।

न्यास चार प्रकार से किये जाते हैं। मन में उन–उन स्थानों में देवता, मंत्रवर्ण, तत्व आदि स्थिति की भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवलमन से ही होता है। बहिर्न्यास केवल मन से ओर उन–उन स्थानों के स्पर्श से भी होता है। स्पर्श दो प्रकार से किया जाता है। एक तो अंगूठा और अनामिका को मिलाकर सब अंगों का स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न अंगों का स्पर्श भिन्न–भिन्न अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है, विभिन्न अंगुलियों द्वारा न्यास का क्रम इस प्रकार है। मध्यमा, अनामिका और तर्जनी से हृदय, मध्यमा, और तर्जनी से सिर अंगूठे से शिखा, दसों अंगुलियों के कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से नेत्र, तर्जनी और मध्यमा से करतल, करपृष्ठ में न्यास करना चाहिये। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी से नेत्र में न्यास करना चाहिये। पंचांग न्यास नेत्र को छोड़कर होता है।

वैष्णवों के लिये इसका क्रम अन्य प्रकार का है। ऐसा बतलाया गया है कि अंगूठे को छोड़कर सीधी अंगुलियों से हृदय अंगुलियों से हृदय और मस्तक से न्यास करना चाहिये। अंगूठे को अंदर रखकर मुट्ठी बांधकर शिखा का स्पर्श करना चाहिये। सब अंगुलियों के कवच, तर्जनी के द्वारा मस्तक के चारों ओर करतल ध्वनि करनी चाहिये। कहीं–कहीं अंगन्यास का मंत्र नहीं मिलता है। ऐसे स्थान पर देवता के नाम के पहले अक्षर से अंगन्यास करना चाहिये।

शास्त्र में यह बात बहुत जोर देकर कही गई है कि केवल न्यास के द्वारा ही देवत्व की प्राप्ति मंत्र सिद्धि से हो जाती है। हमारे भीतर बाहर अंग प्रत्यंग में देवताओं का निवास है। हमारा अन्तस्थल और ब्रह्य शरीर दिव्य हो गया है, इस भावना से ही अदम्य, उत्साह, अद्भुत स्फूर्ति और नवीन चेतना का जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाना है। तब भगवान से एकत्व तो स्वयं सिद्ध ही है। न्यास का

होते हैं – सिर में ऋषि, मुख में छन्द, हृदय में देवता, गुह्य स्थान में बीज, पैरों में शक्ति, और सर्वांग में कीलक है। इनके अलावा ओर भी न्यास है लेकिन मुख्य मुख्य ऊपर लिखे जा चुके हैं।

न्यास चार प्रकार से किये जाते हैं। मन में उन–उन स्थानों में देवता, मंत्रवर्ण, तत्व आदि स्थिति की भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवलमन से ही होता है। बहिर्न्यास केवल मन से ओर उन–उन स्थानों के स्पर्श से भी होता है। स्पर्श दो प्रकार से किया जाता है। एक तो अंगूठा और अनामिका को मिलाकर सब अंगों का स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न अंगों का स्पर्श भिन्न–भिन्न अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है, विभिन्न अंगुलियों द्वारा न्यास का क्रम इस प्रकार है। मध्यमा, अनामिका और तर्जनी से हृदय, मध्यमा, और तर्जनी से सिर अंगूठे से शिखा, दसों अंगुलियों के कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से नेत्र, तर्जनी और मध्यमा से करतल, करपृष्ठ में न्यास करना चाहिये। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी से नेत्र में न्यास करना चाहिये। पंचांग न्यास नेत्र को छोड़कर होता है।

वैष्णवों के लिये इसका क्रम अन्य प्रकार का है। ऐसा बतलाया गया है कि अंगूठे को छोड़कर सीधी अंगुलियों से हृदय अंगुलियों से हृदय और मस्तक से न्यास करना चाहिये। अंगूठे को अंदर रखकर मुट्ठी बांधकर शिखा का स्पर्श करना चाहिये। सब अंगुलियों के कवच, तर्जनी के द्वारा मस्तक के चारों ओर करतल ध्वनि करनी चाहिये। कहीं–कहीं अंगन्यास का मंत्र नहीं मिलता है। ऐसे स्थान पर देवता के नाम के पहले अक्षर से अंगन्यास करना चाहिये।

शास्त्र में यह बात बहुत जोर देकर कही गई है कि केवल न्यास के द्वारा ही देवत्व की प्राप्ति मंत्र सिद्धि से हो जाती है। हमारे भीतर बाहर अंग प्रत्यंग में देवताओं का निवास है। हमारा अन्तस्थल और ब्रह्म शरीर दिव्य हो गया है, इस भावना से ही अदम्य, उत्साह, अद्‌भुत स्फूर्ति और नवीन चेतना का जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाना है। तब भगवान से एकत्व तो स्वयं सिद्ध ही है। न्यास का

यह तीनों पाद माया मात्र हैं। आत्मा सदा चिदेक रस स्वरूप ही होता है। तन्द्रा में जो वाणी से अध्ययनादि होता रहता है, उसे सुप्ति जागर कहते हैं तथा उस समय जो तरह–तरह के दृश्य दिखाई देने लगते हैं, वे सुप्ति स्वप्न है। इसी प्रकार प्रगाढ़ निद्रा को सुप्ति–सुप्ति ओर तत्कालीन सुखानुभव को सुप्ति–तुर्य कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों पादों से आत्मा की चिदेकरसता आवृत्त हो जाती है। उनसे अनावृत्त शुद्ध चिदात्म तुरीय है। यही इसका चौथा पाद है। सम्पूर्ण पदार्थों में अनुस्यूत ब्रह्म का अनुभव करने वाले को 'ओता' कहते हैं, अनुज्ञाता होने से वह 'अनुज्ञाता' कहलाता है। ज्ञातृव्य का निषेध होकर केवल चिदेकरस स्वरूप रहने के कारण उसे अनुज्ञा कहते हैं तथा इन तीनों अवस्थाओं से मुक्त होने पर वह अविकल्प कहा जाता है। विद्वान् की जाग्रत ओर सुषुप्ति यह तीनों अवस्थाएं भी माया लेश मुक्त होती हैं और आत्मा का यह अविकल्प पाद माया से सर्वथा मुक्त होता है। तीसरा पाद सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सबका कारण, समस्त भूतों का प्रभवरूप और आश्रय स्थान है। किन्तु इस तुरीय पाद का वर्णन किसी शब्द से नहीं किया जा सकता। वह न अन्तःप्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है इस प्रकार छः निषेधात्मक पदों से उसे लक्षित किया जाता है। यहां 'अन्तः प्रज्ञ नहीं हैं'। ऐसा कहकर विश्व का 'उभयतः प्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर जाग्रत और स्वप्न के बीच की अवस्था का 'प्रज्ञानघन नहीं है' इस वाक्य से सुषुप्ति का 'प्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का और 'अप्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का और 'अप्रज्ञ नहीं हैं' इससे अचेतन का प्रतिषेध किया गया है। उसका स्वरूप देखने में नहीं आता, वह व्यवहार का विषय नहीं है, उसे किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते तथा उसका कोई लक्षण 'चिन्ह' भी नहीं है। वह चिंतन और कथन में भी नहीं आ सकता तथा एक मात्र चैतन्य का सार स्वरूप, सर्वथा प्रपंच शून्य, शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप है। इसी का नाम आत्मा है तथा उपर्युक्त तीन पदों के निषेध द्वारा यही जिज्ञासुओं का ज्ञेय है।

श्रुतयुक्त योग और ब्रह्म विवेक से संसार निवृत्ति रूप इष्ट सिद्धि

होती है। उपर्युक्त रीति से आत्मा का विवेक कर उसे प्रणव के साथ युक्त करना चाहिये। यह आत्मा ओंकार का अक्षर रूप है और ओंकार अधिमात्रा रूप है। इसके पाद मात्रा रूप हैं। वे अकार, उकार, मकार रूप हैं।

स्थूल सूक्ष्म, बीज और साक्षी यह आत्मा के आगमोक्त चार स्वरूप हैं तथा निवृत्ति प्रतिष्ठा, विद्या और शांति यह उसकी प्रसिद्ध कलाएं हैं। चार प्रकार के भेद वाले उस आत्मा का ओंकार की प्रथम मात्रा अकार के रूप में चतुर्विध जागर ध्यान करना चाहिये। अकार तथा जागर की आप्ति (व्याप्ति) और आदित्व में समानता का चिंतन करना चाहिये। जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा आत्मा की व्याप्ति होती है। और अकार क,ख, आदि शब्दों में व्याप्त है। अकार की तथा जाग्रत की आदिता भी लोक में प्रसिद्ध ही है।

इसी तरह उत्कर्ष और अभयत्व (मध्यवर्तित्व) के कारण उकार की स्वयं मध्यावस्था की तैजस से समानता है तथा प्रमाण ओर लय स्थान रूप होने के कारण मकार सुषुप्ति स्थान प्रज्ञा के सदृश हैं। इस प्रकार इन तीन मात्राओं के साथ वैश्वानरादि का अभेद चिंतन करते हुए अकार को उकार में, उकार को मकार में और मकार को नाद रूप में लीन करे। अकार के द्वारा उपासक का विश्व आत्मा का अभेद होता है, उकार का तेजस के साथ, और मकार से प्रज्ञा के साथ किन्तु अमात्र की उपलब्धि होने पर फिर कोई गति नहीं होती। अमात्र ही तुरीय है। यह आत्मा का चतुर्थ पाद है। यह अव्यवहार्य, प्रपंच, शून्य आनंदमय और अद्वितीय है। इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है। जो इसकी आत्म भाव से उपासना करता है। यह आत्मा में ही लीन हो जाता है।

यह प्रणवोपासना रूप साधन का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। यह ब्रह्म प्राप्ति का बड़ा उत्कृष्ट साधन है, इसका विस्तार पूर्वक स्पष्टीकरण माण्डूक्योपनिषद और उसके ऊपर लिखी हुई श्री गौड़पादाचार्य की कारिकाओं एवं भगवान शंकराचार्य के भाष्य में किया गया है।

-न्यास और उसका महत्व-

न्यास का अर्थ है स्थापन अर्थात् बाहर और भीतर प्रत्येक अंग में इष्ट देवता और मंत्र का स्थापन ही न्यास है। इस स्थूल शरीर में अपवित्रता का राज्य है या (साम्राज्य) है इसीलिये वह देवपूजा का उस वक्त तक अधिकारी नहीं जब तक वह शुद्ध न हो जाय। जब तक उसमें अपवित्रता बनी रहती है तब तक उसके स्पर्श और स्मरण से चित्त में ग्लानि बनी रहती है। विक्षेप और अवसाद से आक्रान्त होने के कारण बार–बार प्रमाद ओर तन्द्रा से अभिभूत हुआ करता है। सब दोषों को मिटाने के लिए न्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीर के प्रत्येक अवयव में जो क्रियाशक्ति सुषुप्त हो रही है, हृदय के मानव अन्तराल में जो भावना शक्ति मूर्छित है उसको जगाने के लिए न्यास महा औषधि है।

न्यास कई प्रकार के होते हैं। (१) मातृका न्यास स्वर और वर्णो का।

(२) मंत्र न्यास पूरे मंत्र का, मंत्र के दो पदों का, मंत्र के एक–एक अक्षर का और एक साथ ही सब प्रकार का होता है।

(३) देवता न्यास शरीर के बाहर और आभ्यन्तर अंगों में अपने इष्टदेव अथवा अन्य देवताओं के यथा स्थान न्यास को कहते हैं।

(४) तत्त्वन्यास वह है जिसमें संसार के कार्य कारण के रूप में परिणित और उनसे परे रहने वाले तत्वों का शरीर में यथा स्थान न्यास किया जाता है। यही पीठ न्यास भी है।

(५) जो हाथों की सब अंगुलियों में तथा करतल और करपृष्ठ में किया जाता है। यह करन्यास है।

(६) जो त्रिनेत्र देवताओं के प्रसंग में षडंग और अन्य देवताओं प्रसंग में पंचांग होता हैं, उसे अंगन्यास कहते हैं।

(७) जो किसी भी अंग का स्पर्श किये बिना सर्वाङ्ग में मंत्र न्यास किया जाता है वह व्यापक न्यास कहलाता है। ऋष्यादिन्यास के छः अंग

होते हैं – सिर में ऋषि, मुख में छन्द, हृदय में देवता, गुह्य स्थान में बीज, पैरों में शक्ति, और सर्वांग में कीलक है। इनके अलावा ओर भी न्यास है लेकिन मुख्य मुख्य ऊपर लिखे जा चुके हैं।

न्यास चार प्रकार से किये जाते हैं। मन में उन–उन स्थानों में देवता, मंत्रवर्ण, तत्व आदि स्थिति की भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवलमन से ही होता है। बहिर्न्यास केवल मन से ओर उन–उन स्थानों के स्पर्श से भी होता है। स्पर्श दो प्रकार से किया जाता है। एक तो अंगूठा और अनामिका को मिलाकर सब अंगों का स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न अंगों का स्पर्श भिन्न–भिन्न अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है, विभिन्न अंगुलियों द्वारा न्यास का क्रम इस प्रकार है। मध्यमा, अनामिका और तर्जनी से हृदय, मध्यमा, और तर्जनी से सिर अंगूठे से शिखा, दसों अंगुलियों के कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से नेत्र, तर्जनी और मध्यमा से करतल, करपृष्ठ में न्यास करना चाहिये। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी से नेत्र में न्यास करना चाहिये। पंचांग न्यास नेत्र को छोड़कर होता है।

वैष्णवों के लिये इसका क्रम अन्य प्रकार का है। ऐसा बतलाया गया है कि अंगूठे को छोड़कर सीधी अंगुलियों से हृदय अंगुलियों से हृदय और मस्तक से न्यास करना चाहिये। अंगूठे को अंदर रखकर मुट्ठी बांधकर शिखा का स्पर्श करना चाहिये। सब अंगुलियों के कवच, तर्जनी के द्वारा मस्तक के चारों ओर करतल ध्वनि करनी चाहिये। कहीं–कहीं अंगन्यास का मंत्र नहीं मिलता है। ऐसे स्थान पर देवता के नाम के पहले अक्षर से अंगन्यास करना चाहिये।

शास्त्र में यह बात बहुत जोर देकर कही गई है कि केवल न्यास के द्वारा ही देवत्व की प्राप्ति मंत्र सिद्धि से हो जाती है। हमारे भीतर बाहर अंग प्रत्यंग में देवताओं का निवास है। हमारा अन्तस्थल और ब्रह्य शरीर दिव्य हो गया है, इस भावना से ही अदम्य, उत्साह, अद्‌भुत स्फूर्ति और नवीन चेतना का जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाना है। तब भगवान से एकत्व तो स्वयं सिद्ध ही है। न्यास का

कवच पहन लेने पर कोई भी आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक विघ्न पास नहीं आ सकते। जबकि बिना न्यास के जप, ध्यान आदि करने पर अनेकों प्रकार के विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। प्रत्येक मंत्र के, प्रत्येक पद के और अक्षर के अलग–अलग ऋषि, देवता, बीज शक्ति और कीलक होते हैं। मंत्र सिद्धि के लिये इनके ज्ञान, प्रसाद और सहायता की अपेक्षा होती है। जिस ऋषि ने भगवान शंकर से मंत्र प्राप्त करके पहले पहल उस मंत्र की साधना की थी वह उसका ऋषि है। वह गुरु स्थानीय होने के कारण मस्तक में स्थान पाने के योग्य है। मंत्र के स्वर वर्णों की विशिष्ट गति, जिसके द्वारा मंत्रार्थ ओर मंत्र तत्व आच्छादित रहते हैं और जिसका उच्चारण मुख द्वारा होता है। छन्द हैं और यह मुख में ही स्थान पाने का अधिकारी है। मंत्र का देवता जो अपने हृदय का धन है समस्त भावों का प्रेरक है हृदय का अधिकारी है, हृदय में ही उसके न्यास का स्थान है। इस प्रकार जितने भी न्यास हैं। सबका एक विज्ञान है और यदि यह न्यास किये जायें तो शरीर और अन्तःकरण को दिव्य बनाकर स्वयं ही अपनी महिमा का अनुभव करा देते हैं। न्यासों से बहुत सी सिद्धियाँ और आध्यात्मिक लाभ हो सकते है।

मातृकान्यास

ॐ अस्य मातृका मंत्रस्य ब्रह्म ऋषिः गायत्री च्छन्दो मातृका, सरस्वती देवता हलो बीजानि स्वराः शक्तयः क्लीं कीलकं मातृकान्यासे विनयोगः।

यह विनियोग करके जल छोड़ दें और ऋष्यादि न्यास करे। सिर में ॐ ब्रह्मणे ऋषये नमः मुखे, ॐ गायत्रीछन्द से नमः हृदये, ॐ मातृका सरस्वत्यै देवतायै नमः गुह्ये, ॐ हल्भ्योः बीजभ्यो नमः पादौ, ॐ स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः सर्वाङ्गे ॐ कीलकाय नमः।

इसके पश्चातृ करन्यास करें

ॐ अं,कं,खं,गं,घं,ङं, आं अगुष्ठाभ्यां नमः।

ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्याम् स्वाहा।

ॐ उं टं ठं ड़ं ढ़ं णं ऊँ मध्यमाभ्यां वषट्।

ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां हुम।

ॐ ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्टकाभ्यां वौषट्।

ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः–

करतल कर पृष्ठायां अस्त्राय फट्।

तदन्तर अंगन्यास करे -

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं ह्रदयाय नमः।

ॐ इं चं छं जं झं ञं ई शिरसे स्वाहा।

ॐ उ टं ठं ड़ं ढ़ं णं ऊं शिखायै वषट्।

ॐ एं तं थं दं धं न ऐं कवचाय हुम्।

ॐ ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वोषट्।

ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं कं क्षं अः अस्त्राय फट्।

इस अंगन्यास के पश्चात् अन्तर्मातृका न्यास करना चाहिये। शरीर में छः चक्र है, उनमें जितने दल होते हैं अतने ही अक्षरों का न्यास किया जाता है। इसकी प्रक्रिया सम्प्रदायानुसार भिन्न–भिन्न है।

वायु इन्द्रिय और जननेन्द्रिय के बीच में सिषनी के पास मूलाधार चक्र है। उसका वर्ण सोने जैसा है और उसमें चार दल हैं उन चारों दलों पर प्रणव के साथ इन अक्षरों का न्यास करना चाहिये। ॐवं नमः, शं नमः षं नमः सं नमः। जननेन्द्रिय के मूल में विद्युत के समान षड्दल स्वाधिष्ठान कमल है, उसके छः दलों पर प्रणव के साथ इन अक्षरों का न्यास करना चाहिये – ॐ वं नमः भं नमः मं नमः यं नमः रं नमः लं नमः। नाभि के मूल में नील मेघ के समान दशदल मणिपूर चक्र है। उसमें इन वर्णो का न्यास करना चाहिये ॐ डं नमः ढं नमः णं नमः तं नमः थं नमः दं नमः धं नमः नं नमः पं नमः फं नमः ह्रदय में स्थित मूगों के समान लाल द्वादश दल अनाहत चक्र में ऊँ कं नमः, खं नमः, गं नमः, घं नमः, ङ. नमः,

चं नमः, छं नमः, जं नमः, झं नमः ञं नमः, टं नमः, ठं नमः। कंठ में धूम्र वर्ण षोड़श दल विशुद्ध चक्र है। इसमें ॐ अं नमः आं नमः इं नमः ई नमः उं नमः ऊँ नमः ऋं नमः ॠं नमः लृं नमः लॄं नमः ए नमः ऐ नमः ओं नमः औं नमः अं नम अः नमः। भ्रूमध्य स्थित चन्द्रवर्ण द्विदल आज्ञा चक्र में ॐ हं नमः क्षं नमः। इसके पश्चात् सहस्रार पर जो कि स्वर्ण के समान कान्तिमान और समस्त स्वर वर्णों से भूषित है, ऐसे त्रिकोण का ध्यान करना चाहिये। उसके प्रत्येक कोण पर ह, ल, क्ष, ये तीनों वर्ण लिखे हैं इनकी तीनों रेखायें क्रमशः अ से, क से, य शे शुरू हुई है। इस प्रकार त्रिकोण के बीच में सृष्टि, स्थिति, लयात्मक बिन्दु रूप परमात्मा विराजमान हैं। इस प्रकार के ध्यान को अन्तर्मातृकान्यास कहते हैं।

'बहिर्मातृकान्यास'

इस न्यास में पहले मातृका सरस्वती का निम्नलिखित ध्यान होता है।

पञ्चाशल्लिनपिर्भिर्विभक्त मुखदोः पन्मध्यवक्षः स्थला।
भास्वन्मौलिनिवद्ध चन्द्रशकलाभापीन तुंङ्गस्तनीम्।।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्य कलशं विद्याञ्च हस्ताम्बुजैः।
विभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनांवाग्देवतामाश्रये।।

पचास वर्णों के द्वारा जिनके मुख, बाहु, चरण कटिः और वक्षः स्थल पृथक–पृथक दिख रहे हैं, सूर्य के समान चमकीले मुकुट पर चन्द्रखण्ड शोभायमान है वक्षःस्थल बड़ा और ऊंचा है। कर कमलों में मुद्रा रुद्राक्ष माला सुधापूर्णकलश और पुस्तक धारण किये हुए हैं अंग–अंग से दिव्य ज्योति दिख रही है। उन त्रिनेत्रा वाग्देवता मातृका सरस्वती की मैं शरण ग्रहण करता हूं। ऐसा ध्यान करके न्यास करना चाहिये इस न्यास में अंगुलियों का नियम अनिवार्य है। इसलिये उन स्थानों के साथ ही अंगुलियों की भी संख्या लिखी जा रही है। न्यास करते समय उनका ध्यान रखना चाहिये संख्या का संकेत इस प्रकार है। (१) अंगूठा (२) तर्जनी (३)मध्यमा (४) अनामिका और (५) कनिष्ठा। जहां जितनी अंगुलियों का संयोग करना चाहिये वहां उतनी संख्या लिख दी गई है।

ललाट में ॐ अं नमः ३,४। मुख पर ॐ आं नमः २,३,४ आंखों में ॐ इं नमः, ॐ ईं नमः १,४ इसी प्रकार पहले ॐ पीछे नमः जोड़कर प्रत्येक स्थान में न्यास करना चाहिये। कानों में ॐ उ, ऊं, १। नासिका में–ऋं, श्रं १ ५ । कपोलों पर लृं, लृं २,३,४ ओष्ठ में–एं ३, अधर में ऐं ३, ऊपर के दांतों में ओं १। नीचे के दांतों में औं ४। ब्रह्मरन्ध्र में अं ३। मुख में आ ४। दाहिने हाथ के मूल में–कं ३,४,५। कोहिनी में खं ३,४,५। मणिबन्ध में गं। अंगुलियों की जड़ में–घं। अंगुलियों के अग्रभाग में ङं इसी प्रकार बायें हाथ में मूल में कोहिनी, मणिबन्ध, अंगुली और अंगुल्यग्र में चं छं जं झं ञं दाहिने पैर में मूल में दोनों संधियों में अंगुलियों के मूल में और उनके अग्र भाग में– टंठं डं ढ़ं णं। वायें पैर के उन्हीं पांच स्थानों में तं थं दं धं नं दाहिने बगल में पं बायें में फं और पीठ में बं (यहां तक अंगुलियों की संख्या कोहिनी वाली ही समझना चाहिये। नाभि में भं १,३,४,५। पेट में मं १ से ५ तक, हृदय में यं दाहिने कंधे पर रं, गले के ऊपर लं, बायें कंधे पर वं हृदय से दाहिने हाथ तक शं, हृदय से बायें हाथ तक–षं, हृदय से दाहिने पैर तक सं। हृदय से बायें पैर तक– हं, हृदय से पेट तक– लं, हृदय से मुख तक–क्षं हृदय से अंत तक हथेली से न्यास करना चाहिये।

संहार मातृकान्यास

बाह्य मातृकान्यास जहां समाप्त होता है, वहीं से संहार मातृका न्यास प्रारम्भ होता है। जैसे हृदय से लेकर मुख तक ॐ क्षं नमः मुख से पेट तक ॐ लं नमः। इस प्रकार उल्टे चलकर ललाट तक पहुंच जाना, यह संहार मातृका न्यास है। इसके पूर्व यह ध्यान किया जाता है।

अक्षस्रजं हरिणपोत मुदग्रटङ्क
विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम्।
अर्ध्देन्दु मौलिमरुणामरविन्दराभां
वर्णेश्वरीं प्रणमतस्तनभारनम्राम्।

जो अपने चार कमलों में सदा रुद्राक्ष की माला, हरिण शावकः पत्थर फोड़ने की तेज टांकी और पुस्तक लिये रहती है। जिनके तीन आंखें हैं और मुकुट पर अर्द्ध चन्द्रमा है, शरीर का रंग लाल है, कमल पर बैठी हुई हैं स्तनों के भार से झुकी हुई उन वर्णेश्वरी को नमस्कार करो। संहार मातृकान्यास के संबंध में कुछ लोगों की ऐसी सम्मत्ति है यह केवल सन्यासियों को ही करना चाहिये। बाह्य मातृकान्यास में अक्षरों का उच्चारण चार प्रकार से किया जाता है या किया जा सकता है। केवल अक्षर, बिन्दुयुक्त अक्षर, सविसर्ग अक्षर और बिन्दु विसर्गयुक्त अक्षर। विशिष्ट कामनाओं के अनुरूप इनकी व्यवस्था है। इन अक्षरों के पूर्व बीजाक्षर भी जोड़े जाते हैं। वाक् सिद्धि के लिये ऐं, श्री वृद्धि के लिये श्रीं, सर्व सिद्धि के लिए नमः, वशीकरण के लिये क्लीं और मंत्र प्रसादन के लिए अः जोड़ा जाता है। मंत्र शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि मातृकान्यास के बिना मंत्र अत्यंत कठिन है।

पीठन्यास

देवता के निवास योग्य स्थान को 'पीठ' कहते हैं। जेसे कामाख्यादि स्थान विशेष पीठ के नाम से प्रसिद्ध है। जैसे बाह्य आसन विशेष शास्त्रीय विधि के अनुष्ठान से पीठ के रूप में परिणित हो जाता है।

वैसे ही पीठ न्यास के प्रयोग से साधक का शरीर और अन्तःकरण शुद्ध होकर देवता के निवास करने योग्य पीठ बन जाता है। वर्तमान युग में जो दो प्रकार के पीठ प्रचलित है, समन्वयक और अमन्त्रक इन दोनों की अपेक्षा यह पीठ न्यास उत्तम है क्योंकि इसमें बाह्य अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। यह साधक के शरीर में ही मंत्रशक्ति, भावशक्ति प्राणशक्ति और अचिन्त्य दैवी शक्ति के सम्मिश्रण से उत्पन्न हो जाता है। विचार दृष्टि से देखा जाय तो पीठ न्यास में जितने तत्वों का न्यास किया जाता है वे प्रत्येक शरीर में पहले ही से विद्यमान हैं। स्मृति और मंत्र के द्वारा उन्हें अव्यक्त से व्यक्त किया जाता है। उनके सूक्ष्म को स्थूल रूप में लाया जाता है। यह सृष्टि क्रम के इतिहास के सर्वथा

अनुकूल है और यह साधक को देवता का पीठ बना देने में समर्थ है। उनका प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से होता है।

प्रत्येक चतुर्थ्यन्त पद के साथ, जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है। पहले ॐ पीछे नमः जोड़कर यथा स्थान न्यास करना चाहिये। जैसे ॐ आधार शक्तये नमः। इसी प्रकार क्रमशः सबके साथ ॐ और नमः जोड़कर न्यास का विधान है।

हृदय में– आधार शक्त्ये, प्रकृत्यै, कूर्माय, अनन्ताय, पृथिव्यै, क्षीर समुद्राय, श्वेतद्वीपाय, मणिमंडलाय, कल्पवृक्षाय, मणि वेदिकायै, रत्नसिंहासनाय।

दाहिने कन्धे पर	–	धर्माय
बायें	"	ज्ञानाय
उरुपर	"	वैराग्याय
दाहिने	"	ऐश्वर्याय
मुख पर	"	अधर्माय
बायें पार्श्व में	"	अज्ञानाय
नाभि में	"	अवैराग्याय
दाहिने पार्श्व में	"	अनैश्वर्याय

फिर हृदय में– अनन्ताय, पद्याय, अं सूर्यमंडलाय द्वादश, कलात्मने, उं सोम मंडलाय षोडश कलात्मने, मं वह्नि मंडलाय दश कलात्मने, सं सत्त्वाय, रं रजसे सं तमसे, आं आत्मने, अं अंतरात्मने, पं परमात्मने ह्रीं ज्ञानात्मने।

सब के साथ पहिले ॐ पीछे नमः जोड़कर न्यास कर लेने के पश्चात् हृदय कमल के पूर्वादि केसरों पर इष्ट देवता की पद्धति के अनुसार पीठ शक्तियों का न्यास करना चाहये। उनके बीच में इष्ट देवता का मंत्र जो कि इष्ट देव स्वरूप ही है स्थापित करना चाहिये। इस न्यास से साधक के हृदय में ऐसा पीठ उत्पन्न हो जाता है, जो अपने

देवता को आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

इन न्यासों के अतिरिक्त और भी बहुत से न्यास है। जिनका वर्णन उन मंत्रों के प्रसंग में आता है। जिनके विस्तार की यहां आवश्यकता नहीं। वैष्णवों का एक केशव कीर्त्यादि न्यास है, उसमें भगवान केशव, नारायण माधवादि मूर्तियों को उनकी शक्तियों के साथ शरीर के विभिन्न अंगों में स्थापित करके ध्यान किया जाता है। उस न्यास के फल में कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करने मात्र से साधक को भगवान के समान बना देता है। वास्तव में न्यासों में ऐसी ही शक्ति है।

सिर में ऋषि, मुख में छन्द ओर हृदय में इष्ट देवता का न्यास करने के अतिरिक्त जब सर्वांग में या यों कहिये कि रोम–रोम में सशक्ति देवता का न्यास किया जाता है, तो मन को इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीर के रोम–रोम में देवता, अणु–अणु में देवता और देवतामय शरीर। ऐसी स्थिति में यह मन भी दिव्य हो जाता हे। जड़ता के चिंतन से और अपनी जड़ता से यह संसार मन को जड़ रूप में प्रतीत होता है। इसका वास्तविक रूप तो चिन्मय ही है। यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मय के ध्यान से इसकी जड़ता निवृत्त हो जाती है, तो सब चिन्मय के रूप में ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयता का बोध हो जाता है। तब अन्तर्देश में रहने वाला निगूढ़ चैतन्य भी इस चिन्मय से एक हो जाता है और केवल चैतन्य ही चैतन्य शेष रह जाता है।

सृष्टि के गंभीर रहस्यों की दृष्टि से न्यास भी एक अतुलनीय साधन है वर्णो के न्यास से वर्णमयी सृष्टि का बोध होकर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि जब यह सृष्टि नहीं थी तब प्रथम कम्पन के रूप में प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणव से ही समस्त स्वर वर्णो का विस्तार हुआ। उनके आनुपूर्वी संपादन से वेद ओर वेद के समस्त सृष्टि। इस क्रम से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह समस्त महान और अणु, स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूप से वर्ण ही है।

पीठ न्यास योग पीठ न्यास अथवा तत्त्वन्यास के द्वारा भी हम उसी परिणाम पर पहुंचते हैं जो साधना का अंतिम लक्ष्य होना चाहिये।

अधिष्ठान परब्रह्म में आधार शक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है। क्षीर सागर से मणि मंडप, कल्पवृक्ष, रत्नसिंहासन आदि की भावना करते–करते अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख हो जाता है और इष्ट देवता का ध्यान करते–करते समाधि लग जाती है। एक ओर तो उस सृष्टिक्रम का ज्ञान होने से बुद्धि अधिष्ठान तत्व की ओर अग्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्ट देवता को प्राप्त करके उसी में लय होने लगता है इस प्रकार आनन्दमयी अवस्था का विकास होकर, सब कुछ भगवान् ही हैं और भगवान् के अतिरिक्त और कोई अन्य सत्ता नहीं है, इस सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

तत्वों (भूतों) की साधना

अधिकांश लोगों का मन अपनी विशालता, शक्ति ओर ज्ञान को भूलकर अपने शरीर की प्रवृत्तियों में इतना अधिक फंस गया है कि अपने को शरीर के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं समझता है। मन इस अज्ञानता व दुर्बलता के कारण ही संसार के सारे दुख द्वन्द्व हैं यह मन जब तक अपने चिन्मयत्व का अनुभव नहीं कर लेता तब तक सुखी और शान्त नहीं हो सकता। इसलिये भावना और अभ्यास की आवश्यकता है। शास्त्रों व संतों ने इसी के लिये अपने साधन बतलाये हैं। जिनमें एक प्रमुख साधन पंचभूतों की धारणा है। स्वरूप की उपलब्धि ही इस साधना का उद्देश्य है, यद्यपि मार्ग में सभी प्रकार की सिद्धियाँ मिलती है।

सात तत्व

(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) अव्यक्त और (७) अहंकार।

इनकी साधना का अर्थ है कि क्रमशः चित्त को इन्हीं में बांधना यद्यपि यह सब चित्त में बंधे हुए हैं। तथापि वर्तमान काल की शरीर प्राप

देवता को आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

इन न्यासों के अतिरिक्त और भी बहुत से न्यास है। जिनका वर्णन उन मंत्रों के प्रसंग में आता है। जिनके विस्तार की यहां आवश्यकता नहीं। वैष्णवों का एक केशव कीर्त्यादि न्यास है, उसमें भगवान केशव, नारायण माधवादि मूर्तियों को उनकी शक्तियों के साथ शरीर के विभिन्न अंगों में स्थापित करके ध्यान किया जाता है। उस न्यास के फल में कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करने मात्र से साधक को भगवान के समान बना देता है। वास्तव में न्यासों में ऐसी ही शक्ति है।

सिर में ऋषि, मुख में छन्द ओर हृदय में इष्ट देवता का न्यास करने के अतिरिक्त जब सर्वांग में या यों कहिये कि रोम–रोम में सशक्ति देवता का न्यास किया जाता है, तो मन को इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीर के रोम–रोम में देवता, अणु–अणु में देवता और देवतामय शरीर। ऐसी स्थिति में यह मन भी दिव्य हो जाता हे। जड़ता के चिंतन से और अपनी जड़ता से यह संसार मन को जड़ रूप में प्रतीत होता है। इसका वास्तविक रूप तो चिन्मय ही है। यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मय के ध्यान से इसकी जड़ता निवृत्त हो जाती है, तो सब चिन्मय के रूप में ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयता का बोध हो जाता है। तब अन्तर्देश में रहने वाला निगूढ़ चैतन्य भी इस चिन्मय से एक हो जाता है और केवल चैतन्य ही चैतन्य शेष रह जाता है।

सृष्टि के गंभीर रहस्यों की दृष्टि से न्यास भी एक अतुलनीय साधन है वर्णो के न्यास से वर्णमयी सृष्टि का बोध होकर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि जब यह सृष्टि नहीं थी तब प्रथम कम्पन के रूप में प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणव से ही समस्त स्वर वर्णो का विस्तार हुआ। उनके आनुपूर्वी संपादन से वेद ओर वेद के समस्त सृष्टि। इस क्रम से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह समस्त महान और अणु, स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूप से वर्ण ही है।

पीठ न्यास योग पीठ न्यास अथवा तत्त्वन्यास के द्वारा भी हम उसी परिणाम पर पहुंचते हैं जो साधना का अंतिम लक्ष्य होना चाहिये।

अधिष्ठान परब्रह्म में आधार शक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है। क्षीर सागर से मणि मंडप, कल्पवृक्ष, रत्नसिंहासन आदि की भावना करते–करते अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख हो जाता है और इष्ट देवता का ध्यान करते–करते समाधि लग जाती है। एक ओर तो उस सृष्टिक्रम का ज्ञान होने से बुद्धि अधिष्ठान तत्व की ओर अग्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्ट देवता को प्राप्त करके उसी में लय होने लगता है इस प्रकार आनन्दमयी अवस्था का विकास होकर, सब कुछ भगवान् ही हैं और भगवान् के अतिरिक्त और कोई अन्य सत्ता नहीं है, इस सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

तत्वों (भूतों) की साधना

अधिकांश लोगों का मन अपनी विशालता, शक्ति ओर ज्ञान को भूलकर अपने शरीर की प्रवृत्तियों में इतना अधिक फंस गया है कि अपने को शरीर के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं समझता है। मन इस अज्ञानता व दुर्बलता के कारण ही संसार के सारे दुख द्वन्द्व हैं यह मन जब तक अपने चिन्मयत्व का अनुभव नहीं कर लेता तब तक सुखी और शान्त नहीं हो सकता। इसलिये भावना और अभ्यास की आवश्यकता है। शास्त्रों व संतों ने इसी के लिये अपने साधन बतलाये हैं। जिनमें एक प्रमुख साधन पंचभूतों की धारणा है। स्वरूप की उपलब्धि ही इस साधना का उद्देश्य है, यद्यपि मार्ग में सभी प्रकार की सिद्धियाँ मिलती है।

सात तत्व

(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) अव्यक्त और (७) अहंकार।

इनकी साधना का अर्थ है कि क्रमशः चित्त को इन्हीं में बांधना यद्यपि यह सब चित्त में बंधे हुए हैं। तथापि वर्तमान काल की शरीर प्राप

देवता को आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

इन न्यासों के अतिरिक्त और भी बहुत से न्यास है। जिनका वर्णन उन मंत्रों के प्रसंग में आता है। जिनके विस्तार की यहां आवश्यकता नहीं। वैष्णवों का एक केशव कीर्त्यादि न्यास है, उसमें भगवान केशव, नारायण माधवादि मूर्तियों को उनकी शक्तियों के साथ शरीर के विभिन्न अंगों में स्थापित करके ध्यान किया जाता है। उस न्यास के फल में कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करने मात्र से साधक को भगवान के समान बना देता है। वास्तव में न्यासों में ऐसी ही शक्ति है।

सिर में ऋषि, मुख में छन्द ओर हृदय में इष्ट देवता का न्यास करने के अतिरिक्त जब सर्वांग में या यों कहिये कि रोम–रोम में सशक्ति देवता का न्यास किया जाता है, तो मन को इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीर के रोम–रोम में देवता, अणु–अणु में देवता और देवतामय शरीर। ऐसी स्थिति में यह मन भी दिव्य हो जाता हे। जड़ता के चिंतन से और अपनी जड़ता से यह संसार मन को जड़ रूप में प्रतीत होता है। इसका वास्तविक रूप तो चिन्मय ही है। यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मय के ध्यान से इसकी जड़ता निवृत्त हो जाती है, तो सब चिन्मय के रूप में ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयता का बोध हो जाता है। तब अन्तर्देश में रहने वाला निगूढ़ चैतन्य भी इस चिन्मय से एक हो जाता है और केवल चैतन्य ही चैतन्य शेष रह जाता है।

सृष्टि के गंभीर रहस्यों की दृष्टि से न्यास भी एक अतुलनीय साधन है वर्णों के न्यास से वर्णमयी सृष्टि का बोध होकर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि जब यह सृष्टि नहीं थी तब प्रथम कम्पन के रूप में प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणव से ही समस्त स्वर वर्णों का विस्तार हुआ। उनके आनुपूर्वी संपादन से वेद ओर वेद के समस्त सृष्टि। इस क्रम से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह समस्त महान और अणु, स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूप से वर्ण ही है।

पीठ न्यास योग पीठ न्यास अथवा तत्त्वन्यास के द्वारा भी हम उसी परिणाम पर पहुंचते हैं जो साधना का अंतिम लक्ष्य होना चाहिये।

अधिष्ठान परब्रह्म में आधार शक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है। क्षीर सागर से मणि मंडप, कल्पवृक्ष, रत्नसिंहासन आदि की भावना करते–करते अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख हो जाता है और इष्ट देवता का ध्यान करते–करते समाधि लग जाती है। एक ओर तो उस सृष्टिक्रम का ज्ञान होने से बुद्धि अधिष्ठान तत्व की ओर अग्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्ट देवता को प्राप्त करके उसी में लय होने लगता है इस प्रकार आनन्दमयी अवस्था का विकास होकर, सब कुछ भगवान् ही हैं और भगवान् के अतिरिक्त और कोई अन्य सत्ता नहीं है, इस सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

तत्वों (भूतों) की साधना

अधिकांश लोगों का मन अपनी विशालता, शक्ति ओर ज्ञान को भूलकर अपने शरीर की प्रवृत्तियों में इतना अधिक फंस गया है कि अपने को शरीर के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं समझता है। मन इस अज्ञानता व दुर्बलता के कारण ही संसार के सारे दुख द्वन्द्व हैं यह मन जब तक अपने चिन्मयत्व का अनुभव नहीं कर लेता तब तक सुखी और शान्त नहीं हो सकता। इसलिये भावना और अभ्यास की आवश्यकता है। शास्त्रों व संतों ने इसी के लिये अपने साधन बतलाये हैं। जिनमें एक प्रमुख साधन पंचभूतों की धारणा है। स्वरूप की उपलब्धि ही इस साधना का उद्देश्य है, यद्यपि मार्ग में सभी प्रकार की सिद्धियाँ मिलती है।

सात तत्व

(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) अव्यक्त और (७) अहंकार।

इनकी साधना का अर्थ है कि क्रमशः चित्त को इन्हीं में बांधना यद्यपि यह सब चित्त में बंधे हुए हैं। तथापि वर्तमान काल की शरीर प्राप

मनोवृत्ति को देखते हुए इनको ऊपर उठाने का यही क्रमिक उपाय मालूम होता है।

(१) पृथ्वी तत्व की धारणा

इस धारणा का यह स्वरूप है कि यह पांचों तत्व जो इन्द्रियों से बाहर दिख रहे हैं। सबके सब मन के अंदर हैं। मनुष्य शरीर में पैर से लेकर घुटनों तक पृथ्वी मंडल है, इसका रंग हरताल के समान पीला है उसकी स्थिति चतुष्कोण है। इसके अधिष्ठात्री देवता चार मुख वाले ब्रह्मा हैं और बीज 'लं' है। प्राणों को स्थिर करके पांच घटिका पर्यन्त उपर्युक्त धारणा करना चाहिये। यह धारणा करते-करते ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं एक शरीर में आवद्ध अथवा शरीर नहीं हूं। मैं सम्पूर्ण पृथ्वी हूं यह सम्पूर्ण नदी नद में शरीर की नस नाड़ियां है। और सम्पूर्ण जीवों के शरीर रोग अथवा आरोग्य के कीटाणु हैं। समस्त पार्थव शरीर मेरे ही अंग हैं। घेरंड संहिता में कहा गया है कि पूर्वोक्त प्रकार से पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं शारीरिक मृत्यु पर उसका अधिकार हो जाता है और सिद्ध होकर वे पृथ्वी तल पर विचरण करते हैं। महर्षि याज्ञवल्कय ने कहा है कि पृथ्वी धारणा सिद्ध होने पर शरीर में किसी प्रकार के रोग नहीं होते। इसका गुण गंध हैं, ज्ञानेन्द्रिय नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा है। शरीर में पांडु, कमला आदि रोग इसी तत्व के विकार से उत्पन्न होते हैं। यह विकार मूलाधार चक्र में ध्यान करने से शांत होते हैं। भय आदि मानसिक विकारों में इसी तत्व की प्रधानता होती है।

ध्यान विधि - एक पहर रात रह जाने पर शांत स्थल में पवित्र आसन पर दोनों पैरों को पीछे की ओर मोड़कर उन पर बैठ जाय। दोनों हाथ उलटे करके घुटनों पर ऐसे रखे कि जिससे अंगुलियां पेट की तरफ रहे तब नासा दृष्टि रखते हुए मूलाधार चक्र में अर्थात 'ल' बीज वाली चौकोण, पीली पृथ्वी का ध्यान करे। इस क्रिया से नाक सुगन्ध से भर जायेगी, शरीर स्वर्ण के समान कांति वाला हो जायेगा ध्यान करते

समय पृथ्वी के उपर्युक्त तमाम गुणों को प्रत्यक्ष करना चाहिये ओर 'लं' बीज का जप करते रहना चाहिये।

(२) जल तत्व धारणा

घुटनों से लेकर पायु इन्द्रिय पर्यन्त जल का स्थान है। कुछ आचार्यों के मत में जानु से लेकर नाभि तक जल का स्थान है। लेकिन याज्ञवल्क्य जी यह नहीं मानते। जल मंडल शंख चन्द्रमा ओर कुन्द के समान श्वेत वर्ण है। इसका बीज अमृतमय 'वं' है इसके अधिष्ठात्री देवता चतुर्भुज, पीताम्बर धारी, शुद्ध स्फटिक मणि के समान श्वेतवर्ण, मंद मंद मुस्कुराते हुए परम कोमल भगवान नारायण हैं। इस जल मंडल का चिंतन करके प्राणों के साथ इसको हृदय में ले आवे और पांच घटिका पर्यन्त चिंतन करे। इसका चिंतन करने से अनुभव होने लगता है कि मैं जल तत्व हूं। पृथ्वी का कण–कण मेरे अस्तित्व में स्निग्ध हैं। स्वर्गीय अमृत और विष दोनों मेरे ही स्वरूप है। कुसुमों की सुकुमारता और पाषाणों का पिण्डी भाव मेरे ही कारणहै। पृथ्वी मेरा ही परिणाम है। मैं ही पृथ्वी के रूप में प्रकट हुआ हूं। मैं ही नारायण का आवास स्थान हूं। अनुभवी संतों का कहना है कि जल धारणा सिद्ध हो जाने पर समस्त ताप मिट जाते हैं। अन्तःकरण के विकार धुल जाते हैं। अगाध जल में भी उसकी मृत्यु नहीं होती।

यह तत्व शरीर के स्वाधिष्ठान चक्र में स्थित है। यह चक्र लिंग के मूल में विद्यमान है। यह चक्र शरीर में 'भुव' लोक का प्रतिनिधि है और उसमें जल तत्व का निवास है। इसकी आकृति अर्धचन्द्राकार होती है। इसका रस कटु, तिक्त, अम्ल, कषाय आदि तमाम रसास्वाद इसी तत्व के कारण होते हैं। उसकी ज्ञानेन्द्रिय जीभ और कर्मेन्द्रिय लिंग है। मोहादि विकार इसी तत्व के परिणाम है।

ध्यान विधि - पृथ्वी तत्व की ध्यान विधि में प्रदर्शित आसन में बैठकर 'व, बीज वाले अर्धचन्द्राकार चन्द्रमा की तरह कांति वाले जल तत्व का उस चक्र में ध्यान करे। इससे भूख प्यास मिटकर सहन शक्ति

पैदा होगी ओर जल में अव्याहत गति हो जायेगी।

(३) अग्नि तत्व धारणा

वायु इन्द्रिय से लेकर हृदय पर्यन्त अग्नि मंडल है। इसका वर्ण रक्त है आकार त्रिकोण है। इसका मुख्य केन्द्र नाभि और बीज 'रं' है। इसके अधिष्ठात्री देवता त्रिनेत्र धारी भगवान शिव हैं। इनका चिंतन करते हुए प्राणों को स्थित करे। जब यह धारणा सिद्ध हो जाती है तब यह अनुभव होता है कि मैं अग्नि हूं। सम्पूर्ण वस्तुओं का जो रंग रूप देखने में आता है वह भी मैं ही हूं। मणियों की चमक–दमक, पुष्पों का सौंदर्य और आकर्षण मेरे ही कारण हैं। सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत के रूप में प्रकट होकर मैं ही सब कुछ देखता हूं। समस्त देवताओं का शरीर मेरे द्वारा बना है। पांच घटिका पर्यन्त अग्नि धारणा सिद्ध होने से कालचक्र का भय नहीं रहता। साधक का शरीर यदि धधकती हुई आग में डाल दिया जाय तो भी वह नहीं जल सकता शरीर में इस तत्व का स्थान 'मणिपुर' चक्र' है। यह चक्र नाभि में स्थित है और 'स्व' लोक का प्रतिनिधि है। इसका गुण रूप है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय आंख और कर्मेन्द्रिय पैर है। क्रोधादि विकार तथा सूजन आदि में इस तत्व की प्रधानता होती है। इस तत्व की सिद्धि से अपचनादि पेट केविकार दूर होते हैं कुण्डलिनी जागरण सरल हो जाता है।

ध्यान विधि - ऊपर लिखे आसन में बैठकर 'रं' बीज वाले त्रिकोण त्रिनेत्रधारी शंकर भगवान मध्याह्न कालीन सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी हैं।

आंखें तीन हैं, सम्पूर्ण शरीर में भस्म लगाये हुए हैं, वे प्रसन्नता से वर देने को तैयार हैं यह धारणा करते हुए उक्त चक्र में ध्यान करे। तत्व सिद्धि होने पर अत्यंत अन्न ग्रहण करने पीने तथा धूप और अग्नि सहन करने की शक्ति आ जाती है।

(४) वायु तत्व धारणा

हृदय से लेकर भौंहों के बीच तक वायु मंडल है। इसका वर्ण

अंजन पुंज के समान काला है। यह अमूर्त तत्व शक्ति रूप है। इसका बीज 'यं' है। इसके अधिष्ठात्री देवता 'ईश्वर' है। प्राणों को स्थिर करके हृदय में इसका चिंतन करना चाहिये। इसकी भावना जब पांच घटिका पर्यन्त होने लगती हैं तब ऐसा अनुभव होने लगता हे कि मैं वायु हूं। अग्नि मेरा ही एक विकार है इस अनन्त आकाश में सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि को मैंने ही धारण कर रखा है। यदि मैं नही होता तो यह सब इस शून्य में निराधार कैसे टिक पाते? मेरी सत्ता ही इनकी सत्ता है। प्रत्येक वस्तु में जो आकर्षण विकर्षण शक्ति है वह मैं ही हूं। यह ब्रह्माण्ड मंडल मेरे ही क्रीड़ा कन्दुक है, मैं गति स्वरूप हूं। सबकी गतियां मेरी कला है, समुद्र में मैं ही तरंग उछालता हूं। बड़े–बड़े वृक्षों को झकझोर कर मैं ही पुष्पवर्षा करता हूं। मेरी गति अबाध है। शास्त्रों में कहा गया है कि वायु धारणा सिद्ध होने पर साधक निर्द्वन्द भाव से आकाश में विचर सकता है। वह न जल से गलता है, न आग से जलता है। बुढ़ापा और मौत उसका स्पर्श नहीं कर सकते।,

यह तत्व 'अनाहत चक्र' हृदय प्रदेश में स्थित है ओर 'महः' लोक का प्रतिनिधि है। इस तत्व की आकृति षट्कोण तथा गोले दोनों ही तरह मानी गयी है। इसका गुण स्पर्शः ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ है वायु, दमा आदि रोग इसी तत्व के विकार से उत्पन्न होते हैं।

ध्यान विधि - उसी पूर्वोक्त आसन में स्थित होकर 'यं' बीज वाले गोलाकार तथा हरीप्रभा वाले वायु तत्व का उक्त चक्र में ध्यान करे। इससे आकाश गमन तथा पक्षियों की तरह उड़ना आदि सिद्ध होता है।

(५) आकाश तत्व धारणा

भौंहों के बीच में मूर्धापर्यन्त आकाश मंडल है। समुद्र के जल के सदृश्य इसका वर्ण है। इसका बीज 'हं' है। इसके अधिष्ठात्री देवता आकाश स्वरूप भगवान 'सदाशिव' शुद्ध स्फटिक के समान श्वेत वर्ण है। जटा पर चन्द्रमा है, पांच मुख, दस हाथ और तीन आंखें हैं। हाथों में अपने अस्त्र, शस्त्र लिये हुए दिव्य आभूषणों से आभूषित, समस्त कारणों

के कारण, पार्वती जी के द्वारा आलिंगित, भगवान सदाशिव प्रसन्न होकर वरदान दे रहे हैं। इसकी भावना प्राणों को स्थिर करके पांच घटिका पर्यन्त धारण करे। इसका अभ्यास करने से ऐसा अनुभव होता है कि मैं आकाश हूं, इसलिये मेरा स्वरूप अनन्त है, देश, काल मुझ में कल्पित हैं। मैं अनन्त हूं, इसलिये मेरा कोई अंश नहीं हो सकता। मेरी सम्पूर्ण विशेषताएं मन के द्वारा आरोपित है। मन ही मुझ में हृदयाकाश और बाह्याकाश की कल्पना करता है। मैं धन हूं, एक रस हूं, न तो भीतर कुछ है और न बाहर मैं सन्मात्र हूं। इस आकाश धारण के सिद्ध होने पर मोक्ष का द्वार खुल जाता है। सारी सृष्टि मनोमय हो जाती है। सृष्टि और प्रलय का कोई महत्व नहीं रह जाता या अस्तिव ही नहीं रहता। मृत्यु के वाच्यार्थ अभाव हो जाने से केवल उसका लक्ष्यार्थ शेष रहता है, जो कि स्वयं अपना स्वरूप है।

इस धारणा का साधारण क्रम यह है कि पहले पृथ्वी मंडल का चिंतन करके उसको जल मंडल में, जल मंडल को अग्नि मंडल में, अग्नि मंडल को वायु मंडल में और वायु मंडल को आकाश में विलीन कर दे। इस प्रकार क्रमशः कार्य को कारण में विलीन करते हुए सब को परम कारण शिव में स्थापित करे और अंततः सदाशिव को आत्मस्वरूप परमात्मा स्वरूप जानकर उन्हीं के स्वरूप में रूप में स्थिति हो जाय।

विशुद्धि चक्र

इसका स्थान कंठ है। यह चक्र 'जनः' लोक का प्रतिनिधि है। इसका रंग नीला और आकृति गोल अंडे की तरह लंबी है। कोई उसे निराकार भी मानते हैं। इसका गुण शब्द और ज्ञानेन्द्रिय कान कर्मेन्द्रिय वाणी है।

ध्यान विधि

पूर्वोक्त आसन पर आसनस्थ होकर अर्थात् 'हं' बीज का जप करते हुए निराकार चित्र विचित्र रंग वाले आकाश का ध्यान करें। इससे

तीनों कालों का ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अणिमादि अष्ट सिद्धियां प्राप्त होती है।

इस विषय में अनुभवी योगियों का ऐसा उपदेश है कि प्रत्येक मंडल का चिंतन करते समय प्रणव के द्वारा तीन–तीन प्राणायाम करके कार्य मंडल को कारज मंडल में हवन कर दे।

"ॐ अमुक मंडलं अमुक मंडले जुहोमि स्वाहा"

इसी प्रकार सम्पूर्ण मंडलों का लय करके अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाना चाहिये।

ब्रह्मवेत्ता परम योगी व वैद्य अश्विनी कुमारों ने कहा कि सब के शरीर पंच भौतिक है और इन शरीरों में तीन तत्व है। वात, पित्त और कफ, पंचभूतों की इस धारणा से यह तीनों तत्व शुद्ध हो जाते हैं। अग्नि धारणा से वातज दोष, पृथ्वी और जल धारण से श्लेष्मज, वायु धारणा से पित्तज और श्लेष्मज दोष और आकाश धारण से त्रिदोष जनित सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

पंचभूतों की इस धारणा से कैसे विचित्र अनुभव होते हैं। इसका बड़ा ही सरस वर्णन योगवासिष्ट के निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में ८८ वें (अठ्ठासी वें) सर्ग से ९२ (बानवें) सर्ग तक दिया है। उसको पढ़ना चाहिये, विस्तार भय के कारण यह यहां नहीं दिया जा सकता है।

इस धारणा से यह अनुभूति तो बहुत ही शीध्र होने लगती है कि यह स्थल प्रपंच मनोमय है। और जड़त्व वासना से शून्य अन्तःकरण की शुद्धि है। जब इसे शुद्ध अन्तःकरण में तत्व स्वीकार करने की योग्यता आ जाती है तब उस विशुद्ध एक रस तत्व का बोध होता है। यह बोध ही समस्त साधनों का परम और चरम फल है।

इस संबंध में महाराज युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए महर्षि व्यास जी ने बतलाया था कि अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करने के अभिलाषी को किस प्रकार शीघ्र सफलता मिल सकती है वह मैं बतला रहा हूं।

किसी एक विषय में चित्त को स्थापित करने को धारणा कहते हैं। यह धारणायें सात प्रकार की होती हैं। साधक को मौन रहकर यम

नियम का पालन करते हुए इनका अभ्यास करना चाहये। दूर ओर समीप के भेद से सात अवान्तर धारणायें भी होतीहैं। उन्हें प्रधारणा कहते हैं। चन्द्र, सूर्य, ध्रुव मंडल आदि की धारणा दूरस्थ है। और नासाग्र भ्रूमध्य, कंठकूप आदि की धारणा समीपस्थ है। इन धारणाओं के द्वारा क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश, अव्यक्त तथा अहंकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। अब योगाभ्यास में प्रवृत्त हुए योगी के कुछ अनुभव बतलाये जाते हैं। तथा धारणा पूर्वक ध्यान करते समय जो पृथ्वी जय आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनका भी वर्णन किया जाता है।

साधक जब स्थूल देह के अभिमान से दूर होकर (मुक्त) हो कर ध्यान में स्थित होता है। तो उस समय सूक्ष्म दृष्टि से मुक्त होने के कारण उसे कुछ इस तरह के रूप (चिन्ह) दिखाई देते हैं। प्रारम्भ में पृथ्वी की धारणा करते समय मालूम होता है कि कुहरे के समान कोई सूक्ष्म वस्तु सम्पूर्ण आकाश को आच्छादित कर रही है। (यह अनुभव इस प्रकार होता है) जब साधक पैर से लेकर घुटने तक के भाग में लय हो जाता है और वहां कुहरा सा दिखाई पड़ता है उस समय ऊपर का भाग और आकाश कुहरे से आच्छादित सा जान पड़ता है। इस स्थिति को पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने का चिन्ह मानते हैं। इसके बाद जब घुटने के ऊपर वायु तक के भाग में जल तत्व की धारणा की जाती है तो वह कुहरा और पृथ्वी कास्थान अदृश्य हो जाता है। तथा वायु के ऊपर का भाग कल्पांत के समुद्र में डूबा सा जान पड़ता है। यह जलतत्व में भूमि के लय होने और जलतत्व पर विजय पाने का चिन्ह है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर धारणाओं में भूतों का लय होता है और उन पर विजय पायी जाती है। यह पहला रूप है। जब कुहरा निवृत्त हो जाता है तो दूसरे रूप में दर्शन होता है वह अपनी देह के भीतर तथा सम्पूर्ण आकाश में जल ही जल देखता है। यह अनुभव जल तत्व की धारणा करते समय होता है फिर जल का लय हो जाने पर जब वह अग्नि तत्व की धारणा करता है तो सर्वत्र अग्नि की ज्वाला दिखाई पड़ती है। इसके भी लय हो जाने पर साधक को आकाश में सर्वत्र फैले हुए वायु का ही अनुभव होता है और वह स्वयं ही ऊन के धागे के समान अत्यंत लघु और हल्का

होकर अपने को निराधार आकाश में वायु के साथ ही स्थित मानता है। उस समय उसे अपने शरीर का हृदय के ऊपर का ही भाग दिखाई देता है। इस प्रकार जब तेज (अग्नि) का संहार कर योगी वायु पर विजय पाता है, तो वायु कासूक्ष्म रूप आकाश में लीन हो जाता है और केवल छिद्र रूप आकाश में लीन हो जाता है एवं छिद्र रूप नीला आकाश ही शेष रह जाता है। उस अवस्था में ब्रह्म भाव को प्राप्त होने की भावना रखने वाले योगी का चित्त अत्यंत सूक्ष्म हो जाता है। उसे अपने स्थूल शरीर का तनिक भी भान नहीं रहता है।

इन सब रूपों (चिन्हों) के दिखाई देने के पश्चात् योगी को पार्थिव ऐश्वर्य सिद्धि हो जाने पर योगी में सृष्टि करने की शक्ति आ जाती है। वह प्रजापति के समान अपने शरीर से प्रजा की सृष्टि कर सकता है जिसको वायु तत्त्व सिद्ध हो जाता है वह बिना किसी की सहायता के हाथ, पैर, अंगूठे अथवा अंगुली मात्र से दबाकर पृथ्वी को कम्पित कर सकता है। आकाश को सिद्ध करने वाला पुरुष आकाश के समान ही होकर सर्वत्र विचरता है और अपने शरीर को अदृश्य कर सकता है। जिसका जल तत्व पर अधिकार हो जाता है, वह इच्छा करते ही बड़े–बड़े जलाशयों को पी सकता है। अग्नि तत्व को सिद्ध कर लेने पर वह शरीर को इतना तेजस्वी बना लेता है और उसकी ओर कोई आंख उठाकर भी नहीं देख सकता, तेज को शांत कर लेने पर ही वह दिखाई देता है। अहंकार की जीत लेने पर पांचों भूत योगी के वश में हो जाते हैं। पंचभूत और अहंकार इन छः तत्वों का आत्मा है। बुद्धि उसको जीत लेने पर सम्पूर्ण ऐश्वर्यो की प्राप्ति हो जाती है।

जिसने ममता और अहंकार का त्याग कर दिया हे, जो शीत उष्ण आदि द्वन्दों को समान भाव से सहता है, जिसके संशय दूर हो गये हैं। जो कभी क्रोध ओर द्वेष नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, सबसे मित्रता व प्रेम भाव ही रखता है, जो मन, वाणी और कर्म से किसी जीव को कष्ट नहीं पहुंचाता और सब प्राणियों में समान भाव रखता है, वहीं योगी ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है। जो किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता, जीवन

निर्वाह मात्र के लिये जो कुछमिल जाता है, उसी में संतोष करता हे, जो निर्लोभ, निश्चित, जितेन्द्रिय और पूर्ण काम है।, सब प्राणियों पर समान दृष्टि रखता है, मिटटी के ढेले और स्वर्ण को समान समझता है। जिसकी दृष्टि में प्रिय और अप्रिय का भेद नहीं है। जो धीर है, निन्दा स्तुति का जिसके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जो कामनाओं की इच्छा न रखकर दृढ़ता के साथ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है तथा किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता ऐसा ज्ञानवान योगी ही संसार से मुक्त होता है। योग से जिन ऐश्वर्यो अथवा सिद्धियों की प्राप्ति होतीहै। उनकी अवहेलना करके पूर्ण विरक्त हो जाना चाहिये। ऐसा करने से ही मोक्ष प्राप्ति होती है।

इस प्रकार उक्त उपायों से सतत् नित्यप्रति छः मास तक अभ्यास करने से सब तत्व सिद्ध हो जाते हैं। फिर तत्व को पहचानना अत्यंत सरल हो जाता है। इस ध्यान विधि के अतिरिक्त तत्वों के पहचानने के और भी कुछ विशेषकर छः उपाय है।जिसका संक्षिप्त निर्देश आगे दिया है।

तत्वों के संबंध में एक विशेष बात, जो कि सदा स्मरण रखना चाहिये यह है कि, स्वर के साथ तत्व भी विद्यमान रहते हैं। जब तक एक स्वर एक नासिका से चलता रहता है। तब तक पांचों तत्व एक–एक बार क्रमशः उदय होकर अपनी अपनी अवधि तक विद्यमान रहकर अस्त हो जाते हैं।

(१) **श्वास की गति** - प्रत्येक तत्व के उदय में नासिका से चलते हुए श्वास की गति निम्नानुसार बदलती है।

अगर नासिका के बीच में श्वास चल रहा है तो पृथ्वी तत्व का, नीचे की तरफ चल रहा है तो जल तत्व का, ऊपर की तरफ चल रहा हो तो अग्नि का, तिरछा चल रहा हो तो वायु तत्व का और यदि घूम रहा हो तो आकाश तत्व का उदय समझना चाहिये।

(२) **आकार** - प्रत्येक तत्व की अपनी–अपनी विशेष आकृतियां होती है। जिनसे कि यह सरलता पूर्वक पहचाने जा सकते हैं।

किसी एक निर्मल दर्पण को लकर उस पर जोर से श्वास छोड़ने पर चौकोर आकृति बने तो पृथ्वी तत्व का, अर्धचन्द्राकार बने तो जल तत्व का, त्रिकोण बने तो अग्नि तत्व का, लम्ब गोल बने तो वायु का और बिन्दु–बिन्दु से दिखाई दे तो आकाश तत्व का उदय हुआ समझना चाहिये।

(३) **स्थान** - जैसा कि ऊपर बतला आये हैं कि प्रत्येक तत्व शरीर में विद्यमान भिन्न–भिन्न चक्रों में स्थित हैं। इन स्थानों में ध्यान पूर्वक देखने में उस समय जो तत्त्व उदय होकर विद्यमान होगा उसका शरीर पर विशेष प्रभाव हुआ होगा।

(४) प्रत्येक तत्व का अपना अपना विशेष रंग भी होता है और जब जब यह उदय होता है तब तब उस रंग का विशेष प्रभाव रहता है। तत्वों के रंग तथा उनके देखने की रीति इस प्रकार है –

दोनों हाथों के दोनों अंगूठों से दोनों कानों के छिद्र दोनों अनामिकाओं से दोनों आंखें, दोनों मध्यमाओं से दोनों नासिका तथा दोनों तर्जनियों एवं कनिष्ठकाओं से मुख बंद करके यदि पीला रंग नजर आये तो पृथ्वी तत्व की, श्वेत रंग नजर आये तो जल तत्व की, लाल रंग नजर आये तो अग्नि तत्व की, हरा या बादल जैसा रंग या काला रंग नजर आये तो वायु तत्व की और रंग बिरंगा रंग दिखाई देता है तो आकाश तत्व की उपस्थिति समझना चाहिये।

(५) प्रमाण (लम्बाई का नाप) प्रत्येक तत्व के उदय होने पर जिस तरह श्वास की गति में फर्क पड़ जाता है उसी तरह श्वांस का प्रमाण भी बदल जाता है। तत्वों के प्रमाण तथा उनको नापने की विधि निम्न प्रकार है।

बारीक धुनी हुई रूई अथवा किसी गत्ते पर अत्यंत बारीक रुई लेकर उसे जिस नकुए (नासिका) से सांस चल रही हो उसके पास धीरे–धीरे ले जावे। जहां पर पहले–पहले थोड़ी–थोड़ी रुई हिलने लगे या धूल उड़ने लगे वहां ठहर जावे और फासला को नापे, फासला बारह अंगुल है तो पृथ्वी तत्व की, सोलह अंगुल है तो जल तत्व की, चार अंगुल

है तो आकाश तत्व की उपस्थिति समझनी चाहिये।

(६) **स्वाद** - प्रत्येक तत्व का अपना–अपना विशेष स्वाद होता है। स्वाद उस तत्व की उपस्थिति में जीभ द्वारा भी अनुभव किया जा सकता है। अगर मुंह में मीठा स्वाद मालूम हो तो पृथ्वी तत्व, कसेला जान पड़े तो जल तत्व कड़ुवा जान पड़े तो अग्नि तत्व, खटटा जान पड़े तो वायु तत्व, और तीखा जान पड़े तो आकाश तत्व की उपस्थिति समझनी चाहिए।

भावना शक्ति और मंत्र शक्ति के संयोग से क्रिया विशेष द्वारा शरीरस्थ मलिन भूतों को भस्म करके नवीन दिव्य भूतों का निर्माण करके और स्थूल और सूक्ष्म शरीर का शोधन करना ही इस क्रिया का तात्पर्य है। चित्त शुद्धि के लिए जितनी क्रियाओं का निर्देश किया गया है, उनमें एक क्रिया नीचे लिखी जाती है, जिसके चार मंत्र है।

(१) ॐ भूत श्रृगाटकात् शिरसुषुम्णा पथेन
जीवशिवं परम् शिवपदे योजयामि स्वाहा।
(२) ॐ वं लिंग शरीरं शोषय स्वाहा।
(३) ॐ रं संङ्कोच शरीरं दह दह स्वाहा।
(४) ॐ परमशिव सुषुम्णापथा मूलश्रृङ्गाटम् उल्लसोल्लस ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल सोऽहम् हंसः स्वाहा।

मनोक्त अर्थ की भावना करते हुए उपर्युक्त मंत्र की आवृत्ति कर लेनी चाहिये। कुछ दिनों तक लगातार श्रद्धा पूर्वक अभ्यास करने से बड़े विचित्र अनुभव होते हैं और अपनी दिव्यता प्रकट होजाती है।

इष्टदेव ओर श्री गुरुदेव के ध्यान में जब चित्त तन्मय हो जाता है और उनकी कृपा का अनुभव करे उसी में मन मज्जन, निमज्जन करने लगता है। तब पवित्रता, शक्ति, शांति और आनन्द की शत–शत धारायें उसके सम्पूर्ण 'स्व' को और यही क्यों, निखिल जगत् को अव्यापित, आप्लावित अर्थात अत्यंत दिव्य बना देती हैं। जो धीर भाव से साधन करते हैं, उनके जीवन में यह सब बातें प्रत्यक्ष हैं।

(ॐ शम्)

श्री पीताम्बरापीठ, दतिया (म.प्र.) से प्रकाशित
ग्रन्थ-सूची

क्र.	पुस्तक का नाम	
१–	श्री गुरुपूजन पद्धति	(संस्कृत)
२–	रेणुका तन्त्रम्	(संस्कृत)
३–	श्री विद्यारत्न सूत्रम्	(संस्कृत)
४–	माण्डूक्योपनिषद्	(हिन्दी)
५–	तारा कर्पूरराज स्तोत्रम्	(हिन्दी)
६–	त्रिपुरा मस्हिन स्तोत्रम्	(हिन्दी)
७–	पीताम्बरा अर्चन पद्धति	(संस्कृत)
८–	दर्शन शास्त्र संग्रह	(हिन्दी)
९–	अथर्ववेदीय ज्योतिष	(हिन्दी)
१०–	योग विज्ञान I	(हिन्दी)
११–	योग विज्ञान II	(हिन्दी)
१२–	लेख संग्रह	(हिन्दी)
१३–	लेख संग्रह	(अंग्रेजी)
१४–	ललिता सहस्रनाम	(संस्कृत)
१५–	सिद्धान्त रहस्य	(हिन्दी)
१६–	सिद्धान्त रहस्य	(अंग्रेजी)
१७–	सिद्धान्त रहस्य	(मराठी)
१८–	बगलामुखी रहस्य	(संस्कृत)
१९–	भैरव सर्वस्व	(संस्कृत)
२०–	भैरव विज्ञान	(हिन्दी)
२१–	नारदीय शिक्षा	(हिन्दी)
२२–	हनुमत् उपासना	(संस्कृत)
२३–	केनोपनिषद्	(हिन्दी)
२४–	ईषावास्योपनिषद्	(हिन्दी)
२५–	कठोपनिषद्	(हिन्दी)
२६–	मुण्डकोपनिषद्	(हिन्दी)
२७–	प्रश्नोपनिषद्	(हिन्दी)
२८–	प्रश्नोपनिषद्	(अंग्रेजी)
२९–	प्रश्नोपनिषद्	(संस्कृत)
३०–	वेदान्त प्रबोध	(हिन्दी/संस्कृत)
३१–	ईश्वर गीता	(हिन्दी)
३२–	सिद्धान्त रहस्य	(संस्कृत)
३३–	वैदिक उपदेश	(हिन्दी)
३४–	वैदिक उपदेश	(अंग्रेजी)
३५–	स्वरोदय विज्ञान	(हिन्दी)
३६–	पुरश्चरण पद्धति	(हिन्दी)

क्र.	पुस्तक का नाम	
३७–	चिद्विलास	(हिन्दी/संस्कृत)
३८–	चिद्विलास	(हिन्दी/संस्कृत)
३९–	चिद्विलास	(हिन्दी/संस्कृत)
४०–	घेरंडसहिता	(हिन्दी/संस्कृत)
४१–	धूमावती सपर्यार्णव	(संस्कृत)
४२–	वातूलनाथ सूत्र	(हिन्दी/संस्कृत)
४३–	शिव सूत्र–भक्ति सूत्र	(संस्कृत)
४४–	योग दर्शन	(अंग्रेजी)
४५–	योग दर्शन	(संस्कृत)
४६–	महात्रिपुरसुन्दरी पूजा पद्धति	(सं.)
४७–	सप्तविंशति रहस्य	(संस्कृत)
४८–	काली कर्पूर स्तोत्रम्	(हिन्दी/सं.)
४९–	देवी सहस्रनाम संग्रह I	(संस्कृत)
५०–	देवी सहस्रनाम संग्रह II	(संस्कृत)
५१–	वरिवस्या रहस्य	(हिन्दी)
५२–	सौन्दर्य लहरी स्तोत्र	(सं.)
५३–	महागणपति तर्पण	(सं.)
५४–	गुरुनवरत्न माला	(संस्कृत)
५५–	निगमागम समन्वय	(हिन्दी)
५६–	मातृकाचक्रविवेक	(हिन्दी)
५७–	कामकला विलास	(संस्कृत)
५८–	सौन्दर्य लहरी (लक्ष्मीधरी)	(संस्कृत)
५९–	स्वामी स्मृति ग्रन्थ	(हिन्दी)
६०–	तान्त्रिक पञ्चांग	(संस्कृत)
६१–	शरभ तंत्र	(संस्कृत)
६२–	महाविद्या चतुष्टय	(संस्कृत)
६३–	पञ्चस्तवी	(संस्कृत)
६४–	तीर्थ भारतम्	(पद्य)
६५–	सौन्दर्य लहरी (डिंडिम)	(संस्कृत)
६६–	दार्शनिक चिंतन और शाक्तसिद्धांत	(हिन्दी)
६७–	–तदैव– (अंग्रेजी)	(मुद्रणाधीन)
६८–	पराप्रवेशिका	(हिन्दी)
६९–	दुर्लभ स्तोत्र	(संस्कृत)
७०–	पीताम्बरा चालीसा	(हिन्दी)
७१–	परश्चरण	(पद्य)
७२–	पञ्चोपनिषद्	(संस्कृत)
७३–	लघुस्तव राज	(हिन्दी/संस्कृत)
७४–	शाक्ततंत्र साधना	(हिन्दी)
७५–	शिवसूत्र (स्पन्दकारिका)	(हिन्दी/संस्कृत)